आन्ध्र भागवत परिमल

[तेलुगु के महाकवि पोतन्ना कृत 'आन्ध्र भागवतमु' के चार उपाख्यानों का हिन्दी पद्य-रूपान्तर]

रूपान्तर

श्री वारणासि राममूर्ति 'रेणु'

प्रकाशक

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादेमी

हैदराबाद

आन्ध्र भागवत परिमल

[तेलुगु के महाकवि पोतन्ना कृत 'आन्ध्र भागवतमु' के चार उपाख्यानों का हिन्दी पद्य-रूपान्तर]

रूपान्तर

श्री वारणासि राममूर्ति 'रेणु'

प्रकाशक

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादेमी

हैदराबाद

प्रथम मुद्रण १९६५
१००० प्रतियाँ

प्रकाशक
आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादेमी
तिलक रोड, हैदराबाद

मूल्य
पाँच रुपये

मुद्रक
कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस
८३१, बेगमबाज़ार, हैदराबाद

प्रकाशकीय वक्तव्य

आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की तरफ़ से आन्ध्र-भागवत-परिमल को पाठकों के सम्मुख रखते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है। हिन्दी के माध्यम से तेलुगु साहित्य का परिचय समूचे राष्ट्र को कराने की हमारी योजना का यह प्रथम प्रयास है। निकट भविष्य में हम और भी रचनाएँ—महाकाव्य, कथा साहित्य वग़ैरह—प्रकाशित करने जा रहे हैं। अपने अध्यक्ष डॉ० बेजवाडा गोपालरेड्डी के समर्थ दिग्दर्शन में अकादमी, ऐसे प्रकाशनों द्वारा, राष्ट्रीय एकता और भावात्मक संगठन के लिए प्रयत्नशील है।

यह तो अकादमी का परम सौभाग्य है कि उसका यह प्रथम प्रकाशन परम सम्माननीय राष्ट्रपति डॉ० सर्वेपल्ली राधाकृष्ण महोदय को सादर अर्पित किया जा रहा है। उनके आशीर्वाद अकादमी के लिए शक्ति-स्रोत हैं, रक्षा-कवच हैं।

श्री राममूर्ति 'रेणु' जिन्होंने यह अनुवाद कार्य सँभाला है, हिन्दी साहित्य जगत् के लिए सुपरिचित हैं। ऐसा सुंदर अनुवाद प्रस्तुत करने के लिए अकादमी उनका अभिनन्दन करती है। साथ ही उसे प्रकाश में लाने का अवसर प्रदान करने के लिए उनके प्रति कृतज्ञ है।

आदरणीय श्री पी० वी० नरसिंहाराव ने हमारी प्रार्थना मान कर एक छोटी किन्तु सुन्दर प्रस्तावना दी है, जिसके लिए अकादमी उनका आभार मानती है। आशा है कि हिन्दी साहित्य संसार इस कृति का स्वागत-समादर करेगा।

देवुलपल्ली रामानुजराव
मंत्री,
आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी

प्रस्तावना

श्री राममूर्ति 'रेणु' रचित "आन्ध्र भागवत परिमल" के कुछ भागों को पढ़ने का मुझे अवसर मिला। श्री 'रेणु' हिन्दी के एक प्रथितयश कवि हैं। आन्ध्र साहित्य की उत्कृष्ट रचना "भागवत" को हिन्दी भाषियों तक पहुँचाने का उन्होंने बीड़ा उठाया है। इसमें संदेह नहीं कि सरसता की दृष्टि से आन्ध्र भागवत का स्थान केवल आन्ध्र साहित्य में नहीं, विश्व साहित्य में भी अनन्य कहा जा सकता है। यह ग्रंथ शान्तरस का सागर है; निगमागमों का निचोड़ है; काव्यकला में अनुपम है। आन्ध्र भागवतकार पोतन्ना महान् भक्तशिखामणि थे। उन्होंने किसी राजा-महाराजा का आश्रय नहीं लिया। वे ग़रीब किसान थे। अपनी सारी रचना उन्होंने भगवान श्री रामचन्द्र के चरणों में अर्पित कर दी---बड़े गर्व से, बड़े भक्तिभाव से ! उन्होंने स्पष्ट कह दिया, "मैं अपनी रचना किसी 'मनुजेश्वराधम' को अर्पित नहीं करूँगा।" जो कवि मनुजेश्वरों को "अधम" मानता हो---सो भी उस मध्य-युग में जब कि राजाश्रय के लिए कविगण तरसा करते थे---उसकी महत्ता के विषय में अधिक वर्णन करना अनावश्यक है। पोतन्ना के उदात्त जीवन से संबंधित कई मार्मिक तथा रोचक दंत कथाएँ प्रचलित हैं, जिनसे आन्ध्र प्रांत की साधारण जनता अत्यन्त प्रभावित है। यदि कहा जाए कि पंडित एवं पामरजनों में पोतन्ना के समान लोकप्रिय कोई अन्य आन्ध्र कवि नहीं हुआ है, तो प्रायः अतिशयोक्ति न होगी।

पोतन्ना ने रचना की भागवत की, परन्तु वे अनन्य रामभक्त थे। इस दृष्टि से उनकी तुलना गोस्वामी तुलसीदास से हो सकती है। भक्तिपरवशता तथा काव्य की प्रौढ़ता में दोनों भी अप्रतिम हैं। दोनों की कविता में उदात्त-तात्विक दृष्टिकोण विद्यमान हैं। दोनों की भाषा सजीली एवं प्रभावशाली है। दोनों अत्यंत लोकप्रिय हैं, आशा है कि इस संक्षिप्त तुलना से पोतन्ना की प्रतिभा का हिन्दी पाठकों को पता चलेगा।

श्री 'रेणु' का अनुवाद मूल के अत्यंत सन्निकट है। कई स्थानों पर मूल में प्रयुक्त पदावली लगभग ज्यों की त्यों ली गयी है। इस प्रकार आन्ध्र

भागवत के अंतर्गत वस्तु के साथ-साथ उसकी भाषा की झाँकी भी श्री 'रेणु' के अनुवाद में मिलती है। आशा है, यह अनुवाद हिन्दी पाठकों एवं रसिकों के आदर का पात्र बनेगा। 'रेणु' जी को मेरी हार्दिक बधाई !

यह हर्ष का विषय है कि यह रचना आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से प्रकाशित हो रही है। इस के लिए मैं अकादमी का अभिनन्दन करता हूँ।

विनम्र,

पी. वी. नरसिंहराव

निवेदन

आन्ध्र-भागवत-परिमल सहृदय मर्मज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मैं संतोष अनुभव कर रहा हूँ। साहित्यिक आदान-प्रदान के द्वारा, हमारे इस विशाल भूभाग की सांस्कृतिक एकता में यथासंभव योगदान देना, मेरे हिन्दी अध्ययन व अध्यापन का प्रधान उद्देश्य रहा है। सन् १९४५ में आरम्भ मेरे इस राष्ट्रीय अनुष्ठान में, इस पुस्तक का प्रकाशन एक और क़दम है।

उत्तर में तुलसीकृत 'मानस' की भाँति दक्षिण में—आंध्र प्रदेश में—पोतन्ना कृत 'आंध्र महाभागवतनु' अत्यंत लोकप्रिय रचना है। इसका पठन-पाठन सर्वत्र होता रहता है। यद्यपि यह कृति संस्कृत के श्रीमद्भागवत का रूपांतर है, किन्तु पोतन्ना की प्रतिभा और भक्ति की तीव्रता ने इसमें मौलिक रचना का-सा स्वाद भर दिया है। महान् राम-भक्त और द्रष्टा होने के कारण, भगवल्लीला-संबंधी, पोतन्ना के अपने दर्शन और अपनी अनुभूतियाँ भी रहे हैं, जिनका सरस शब्दांकन तेलुगु भागवत में हुआ है। इस कारण कुछ स्थानों और कथानकों में उनके वर्णन मूल-संस्कृत से स्वतंत्र और अत्यंत तल-स्पर्शी हो पड़े हैं। वामन चरित्र, गजेन्द्र मोक्षण कथा, इत्यादि प्रसंगों में यह विषय स्पष्ट देखा जा सकता है।

संस्कृत के श्रीमद्भागवत के, पद्य-काव्य के रूप में अनुवाद, भारत की प्रादेशिक भाषाओं में, बहुत कम हुए हैं। हिन्दी में तो वैसा रूपांतर नहीं रहा है। सूरदास जी मुक्तक-पदों में श्रीकृष्णलीलाओं का गायन कर गये हैं। उसमें प्रबंध-विधान का निर्वाह नहीं हुआ है और न ही बारहों स्कंधों की कथा का, क्रम-बद्ध समावेश हो पाया है। किन्तु तेलुगु में आज से कोई ६, ७ सौ वर्ष पूर्व महाकवि संतवर पोतन्ना ने, इस महान् ग्रंथ का, चम्पू शैली में सर्वांग सुन्दर भाषांतर प्रस्तुत किया है। उसके कतिपय लोकप्रिय उपाख्यानों का रूपांतर, इस पुस्तक में, राष्ट्रभाषा प्रेमियों के सम्मुख रखा जा रहा है।

वैसे तो अनुवाद-कार्य—अगर वह ईमानदारी से किया जाए—बड़ा ही कठिन होता है। मूल रचना और लेखक को अच्छी तरह से हृदयंगम करने एवं उनकी बातों को, बारीकियों के साथ अविकल रूप में, अनुवाद की

भाषा में उतारने की बड़ी ही आवश्यकता होती है। यदि वह रचना महाकवि पोतन्ना जैसी अद्वितीय प्रतिभा की उपज हो तो, वह कठिनाई और भी बढ़ जाती है। ऐसे प्रसंगों में, कवि तथा काव्य के प्रति समुचित न्याय करने की दृष्टि से, मैंने यह आवश्यक समझा कि अपने ऊपर, काव्य के बहिरंग, छंद वगैरह संबंधी बंधन यथासंभव कम रख लूं। कवि-हृदय का उद्घाटन करने की ओर अधिक ध्यान दूं। तभी मैंने मुक्त-छंद को अपना लिया है। मूल-ग्रंथ के भावों की रक्षा करते हुए, जहाँ-जहाँ संभव हो सका, अन्त्यानुप्रास (तुक) का निर्वाह किया है, अन्य स्थानों में नहीं। किन्तु लय और गति का निर्वाह सब जगह हुआ है। एक आध स्थानों में, जहाँ बाणभट्ट की कादम्बरी जैसे लंबे गद्यांश हैं, हिन्दी में भी उनका गद्यानुवाद दिया गया है। किन्तु जहाँ तक संभव हो सका, मूल-तेलुगु का सौंदर्य लाने की ओर ही अधिक प्रयास किया गया है।

एक बात और। तेलुगु भाषा संस्कृत-शब्द-बहुला है, काव्य-रचना में दीर्घ संस्कृत-समास आसानी से खप जाते हैं। अनुवाद में भी तेलुगु-काव्य-रचना की उस खूबी को यथासंभव लाने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ ऐसे-समासों की झड़ी-सी लग गयी है, वहाँ समस्त-शैली के लिए अनभ्यस्त हिन्दी के कतिपय पाठकों को आशय समझने में दिक़्क़त होगी अवश्य, किन्तु वह कार्य असंभव नहीं होगा। आख़िर महाकाव्यों का तो कुछ विशिष्ट स्तर भी होना चाहिए! तेलुगु काव्य-रचना-पद्धति का परिचय राष्ट्र-भाषा प्रेमियों को देना और राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रांतीय-भाषा-रचना शैली को प्रतिबिंबित कराना भी इसका एक और उद्देश्य है। तभी हिन्दी की राष्ट्रीय-सज्जा निखार को पा सकेगी।

आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के अध्यक्ष आदरणीय डॉ० बेजवाडा गोपाल रेड्डी और मंत्री मान्यवर श्री देवुलपल्लि रामानुजराव जी का मैं अत्यंत आभारी हूँ, जिनके सौजन्य एवं सत्प्रयत्न के परिणाम स्वरूप यह पुस्तक प्रकाश में आ रही है। इन दोनों महानुभावों से मैं कभी उऋण नहीं हो सकूँगा!

कोई दो वर्ष पूर्व, बोलाराम के राष्ट्रपति भवन में, मैंने, अपने इस अनुवाद के कुछ अंश, महामना राष्ट्रपति डॉ० सर्वेपल्ली राधाकृष्ण महोदय को सुनाने का सौभाग्य प्राप्त किया था। जब मैं हिन्दी अनुवाद उन्हें सुनाने लगा, वे उन पद्यों के मूल तेलुगु छंदों को धड़ाधड़ सुनाते गये, बिना किसी पुस्तक की सहायता के! मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा! मुझे

पता न था कि तेलुगु भागवत उन्हें कंठस्थ है। तत्काल मेरे मन में एक विचार उठा—मैंने डाक्टर महोदय से डरते-डरते निवेदन किया था—'आप जैसे महान् भागवत और पोतन्ना के भक्त के कर-कमलों में यह अनुवाद रख कर मैं धन्य होना चाहता हूँ!' इस पर आपने बड़ी गंभीरता से कहा—'Well, if you don't find a better person than myself!' उनकी वह नम्रता और उदारता देख मैं गद्गद् हो गया था! और सकृतज्ञ सिर नवा कर विदा हो लिया। बाद को डाक्टर महोदय ने लिखित रूप में स्वीकृति भेज कर मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया। यह तो मेरा परम सौभाग्य है कि भगवद्-विषयिक इस पवित्र रचना के लिए योग्यतम अधिकारी एवं महान् दार्शनिक-श्रेष्ठ, कृति-पति के रूप में प्राप्त हुए हैं! तदर्थ राष्ट्रपति महोदय के चरण-कमलों में कृतज्ञता पूर्वक मैं सिर झुकाता हूँ!

हिन्दी, तेलुगु, दोनों भाषाओं के मर्मज्ञ, सहृदय पंडित, आंध्र प्रदेश सरकार के न्याय विभाग के मंत्री आदरणीय श्री पी. वी. नरसिंह राव महोदय ने इस रचना के लिए बहुमूल्य प्रस्तावना प्रदान कर मुझे उपकृत किया है। शासन के गुरुतर कार्यों में व्यस्त रह कर भी आपने मेरी प्रार्थना मान कर मुझे गौरवान्वित किया है। उनके प्रति मैं चिर-कृतज्ञ रहूँगा।

प्रादेशिक-भाषा-साहित्य-सौरभ को राष्ट्रभाषा हिन्दी में रूपांतरित कर के अपने महान् देश की सांस्कृतिक और राजनैतिक एकता को पुष्ट बनाने की आवश्यकता, इस समय कितनी ही बनी हुई है। इस पवित्र राष्ट्रीय अनुष्ठान में यदि मेरी यह रचना किंचित् भी योग दे सकेगी तो मैं अपने को कृत-कार्य मानूँगा!

इति शम्

विनीत,
वारणासि राममूर्ति 'रेणु'

होली
१७-३-१९६५
हैदराबाद (आं. प्र.)

॥ ॐ ॥

अञ्जलि !

त्वदीयं वस्तु, गोविन्द !

तुभ्यमेव समर्पये !

भागवत-पाद-रेणु

रामर्मूति रेणु

भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति
डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्

ॐ

समर्पण

भारत-गरिमा का मेरु-श्रृङ्ग !
दर्शन-वनरुह का अमल भृङ्ग !
संस्कृति-सिंधु की तरङ्ग तुङ्ग !
सहजीवन की अतुलित उमंग !

हे सर्वपल्लि कुल के सपूत !
हे सर्वश्वेत ! वर शांति दूत !
समरसता-रथ का कुशल सूत !
भागवत - धर्म - जीवन्त पूत !

श्रीराधाकृष्ण महापण्डित !
अनुपम वक्तृत्व-कला-मण्डित !
प्रतिभा बहुमुखी ! सुधी परिणत !
स्रष्टा वर ग्रन्थों के अगणित !

भागवत - श्रेष्ठ श्री पोतराज !
आत्माभिमान का अटल साज !
साहिती - सती - श्रृङ्गार, लाज !
सत्कवि - गण का हृदयाधिराज !

उनके कृति - सरसिज का सुविमल,
आन्ध्र-भागवत का वर परिमल,
हिन्दी का धर परिधान अमल
प्रस्तुत है तव सम्मुख ऊर्मिल !

प्राप्त करे यह सात्विक-प्रसार,
फैला समदर्शन क्षमा प्यार,
भागवत-धर्म का भव्य सार,
मानवता की अभिनव बहार !

विनीत,

वारणासि राममूर्ति 'रेणु'

उपाख्यान

- प्रह्लाद चरित
- गजेन्द्र मोक्षण कथा
- वामन चरित्र
- अम्बरीष कथा

आंध्र भागवत परिमल

प्रह्लाद चरित

॥ श्री ॥

आन्ध्र भागवत परिमल

प्रह्लाद चरित

भक्तवर नारद जी युधिष्ठिर से कहने लगे—

"अपने में, अन्य सभी जीवों में, एक भाँति,
समता–कल्याण–भावपूर्ण–दृष्टि रखता था,
बड़े गुरुजनों को लखते ही जा कर समीप,
किंकर सम, नतशिर हो, झुक प्रणाम करता था,
गोचर होते ही, अपने समक्ष स्त्री जन के,
मातृ भावना रख कर मन में, हट जाता था,
दीन दरिद्रों के रक्षा–हित, वात्सल्य धर्म
मन में भर, पितरों सम, जतन किया करता था,
भ्रातृ भाव में, अपने वय वालों का, दैव–
समान देशिकों का सत्कार सदा करता था,
झूठ न कह सकता था; हँसी खेल में भी, नृप !
ललित–शील–मर्यादित प्रह्लाद सुधीवर था !

"रूप, जनम, विद्या, धन में वरिष्ठ बन कर भी,
आभिजात्य–गर्व दर्प का संग न रखता था;

विविध महा विषय–संपदाओं को रख कर भी,
पाँच इंद्रियों की पकड़ से मुक्त रहता था,
भव्य वय तथा बल प्रभुता संयुत बन कर भी
काम क्रोध मद मत्सर से अलिप्त रहता था,
सुन्दरी सुरा के बहु भोग लिये रह कर भी,
आँख उठा कर उनकी ओर नहीं तकता था,
धरणीश्वर ! बन हरि–परतंत्र[1] दैत्यराज पुत्र,
और सभी तंत्रों से ऐहिक, पूरा स्वतंत्र,
श्रवण–नयन–गोचर विषयों में संसृति के इस,
वस्तु–दृष्टि–गत–वाञ्छा तनिक नहीं रखता था !

"सृष्टि के सभी सद्‌गुण, झुण्ड बाँध आ करके,
असुर–राज के सुपुत्र में निवास करते थे,
निर्मल–मति राजन् ! हरि को न यथा तजते थे,
तथा भक्त का साथ, न, पल भर को तजते थे !

"शत्रु–पक्ष के निर्जर भी विमुक्त कण्ठों में,
सत्कवियों के समान छंद–वृत्त–बंधों में,
करते थे खूब प्रशंसा—"कभी न देखे हैं,
हमने प्रह्लाद सदृश गुणी नहीं लेखे हैं !"
तब क्या अचरज, आप सरीखे भागवत सुजन,
दैत्यराज–सुत के गुण गाते हैं, यदि राजन् ?

१. हरि की दासता स्वीकार करके

"अनगिन हैं, गुणनिधि प्रह्लाद के उदार सुगुण,
दीर्घकाल तक, न सकेंगे, जिनको निसिदिन गुन,
दो सहस्र जिह्वाओं से, अपनी, फणिपति भी,
भाषापति चतुरानन और वह बृहस्पति भी !

"वासुदेव में भगवन, प्रह्लाद वरेण्य गुणी
सतत–प्रवर्द्धित–सुपुष्ट–सहज–भक्ति रख अपनी,
लगता हो यदि, श्रीपति पास आन बैठा है,
गुँइयों के संग बैठना बिसार देता था,
लगता हो, असुर–शत्रु खेल रहा है आगे,
असुर बालकों से खेलना भूल जाता था,
लग जाये, भक्त–प्रिय बात कर रहा है, तो
औरों को देना उत्तर, भूला रहता था,
लग जाये यदि—'हरि को अपने में देखा है'
भाव–मगन बन, सब लखना भुलाय लेता था,
हरि के पद–कमल–द्वय–ध्यानामृत से अंतर
लगता हो, अगर भर गया है, निज बाह्यांतर,
तो बन कर नित्यपूर्ण, भूल जगत जाता वह,
जडता ना रख कर भी, जड-सा था जाता रह !

"खाते–पीते, बातें करते, हँसते सोते,
खेल कूद करते, नदियों में खाते गोते,
चलते फिरते, लखते दिशियों में राक्षस सुत,
श्रीनारायण – चरणसरोज – युगल – ध्यान – जनित

अमृत संतत पी पी, तन भूले रहता था,
अग जग का ज्ञान गँवा, छकित थकित रहता था !

"रो पड़ता था, कहीं अकेले में बैठ कभी
वैकुण्ठाधिप–चिंतन में, तज व्यापार सभी !
गा उठता था, उद्धत बन के फिर कभी कहीं,
श्रांति छोड चित्त में, भरे दृढ हरि–भाव सही।
हँस देता था करवट ले, कहते यही कहीं—
'विष्णुदेव तो, बस, है इतना ही, और नहीं !'
उछल–कूद करता था फूल, कहीं, यह कह कर—
'आज, अहा ! कमल–नयन–निधि, मैंने, देखी, वर !'
केशव परमेश की, लगाये रट एक जगह,
प्रणय–हर्ष–जनित–बाष्प–सलिल गिरा, और जगह–
तन में पुलकावलि भर, नेत्र निमीलित कर के,
रह जाता कहीं था खड़ा, अवाक् हो कर के !

"इस भाँति, पूर्वजन्मकृत, परम-भागवत-जनों के सत्संग से संप्राप्त, मुकुंद-चरणारविंद सेवा के अतिरेक से, अखर्व-निर्वाण (मोक्ष) की इच्छा बढ़ने लगी तो, समय-समय (इस जन्म में) प्राप्त होने वाली, दुर्जनों की संगति के कुप्रभाव से, अपने चित्त को, अन्य विषयों की तरफ़ जाने से रोक कर, अपने वश में लिये रहने वाले, एवं, अप्रमत्त और सांसारिकता से निवृत्त, बुधजनविधेय और महाभागधेय, सुगुणमणिगण-वरिष्ठ और परम-भागवत-श्रेष्ठ, कर्म-बंधन-

लता-लवित्र और नितांत-पवित्र बने सुपुत्र में वैरभाव रख कर, अनुकंपा छोड़, उसे सुरवैरी ने मार डाले जाने को भेजा।" नारदजी की यह बातें सुन कर, धर्मराज युधिष्ठर ने प्रश्न किया—

"माता पिता, हमेशा पालन ही करते हैं—
पुत्रों का, अपढ़ हों कि पढ़े-लिखे, हरते हैं—
उनका अज्ञान, मित्रता-पूर्वक समझा कर
भाव वैर, का किसी तरह हृदय में न रख कर,
तब सुत को, पूत चरित सौजन्य-महोदधि को,
जगती को पावन कर सके, भव्य गुणनिधि को,
संकट में कैसे झोंक सका स्वयं पितृ हृदय ?
विषम यातनाओं का लक्ष्य कर सका, निर्दय ?

"विपुल प्रभामंडित वालक को, करुणालवाल,
हरिपद – सरसीरुहचिंतन – शुचि – सत्कर्मशील
साधु गुरुजनों के चरणों में, निज रखे भाल
रहता जो नत, निर्मल, लक्ष्मीयुत गुरुविशाल,
सकल सभ्य लोगों से, स्तवनीय चरित्रवान्
मोहलता विच्छेदक, आत्मज को, उस महान्
क्यों कर भेजा मुँह में मृत्यु के, पिता हो कर—
असुरेश्वर ने सरपट ? कहियेगा मौनीश्वर !"

सुन कर नारद बोले—"सुनिये हे धर्मराज !
सोचने लगे मन में, इक दिन यों दैत्यराज,—

'बालक यह मूरख है, समझ नहीं पाता पद—
मेरा संपादित अमराधिपत्य का गुरु पद !
रहता है सभ्य, सदा जडता में ग्रस्त, अबल
विद्या बिन, यह कुशाग्र बुद्धि बनेगा न, चपल ।'
सोच, आत्मनंदन को देख, निकट बुलवा कर
प्रीति सहित बोले, उत्कंठित हो, दुलरा कर !

"प्यारे सुत मेरे ! सुन लो राज दुलारे ! रह
जाता है अनपढ़, जग में मूरख, प्यारे ! यह
जग का है नियम, मिलेगा विद्या से विवेक—
विधि-निषेध का, भले-बुरे का चातुर्य नेक ।
पढ़ना होगा सबको इसलिए; पढ़ाऊँगा
तुम को आर्यों के ढिग, पढ़ लो सुख पाऊँगा !"

"बुलवा कर, राक्षस—गुरु—भार्गव के पुत्रों को
अद्भुत तार्किक, चण्ड तथा अमर्क, मित्रों को,
समुचित अभिनंदन कर उनका बोला—'भगवन्
अंधा—सा रहता है बालक यह, गूँगा बन
मेरे शौर्य प्रताप का है, रखता ज्ञान न !
गुरुजन हो, करुणाघन मान्य हमारे, सुजान
आत्मा-बांधव, सुत आचार्य—पाद के महान् !
कृपया इसको ग्रंथ पढ़ा कर, विद्या प्रदान—
कर दें, कर दें रक्षा, इसे बना नीतिमान् !'

"आज्ञा पा कर, वे अध्यापक दनुजेश्वर की,
ले कर प्रह्लाद को गये, अपने साथ सुधी !
समवय वाले उसके, असुर कुमारों को कति,
कर उसके साथ, दनुजवल्लभ के घर के अति,—
निकट ही, लगे शिक्षा देने, बहु शास्त्रों की—
पठनीय; सुना सबको, पढ़ ली शिक्षा गुरु की,
रख कर अचला-भक्ति मुरारि-पुत्र ने, हरि की !

"जैसे देते देशिक शिक्षा, वैसा, पढ़ता
'हाँ हूँ' ना करता, आक्षेप कुछ नहीं गढ़ता।
कारण, उसकी सुदृढ़ मनीषा जान गई थी,
'सब कुछ है मिथ्या कोरी !' पहचान गई थी !

"फिर कुछ दिन बाद, अमरनाथ-वैरि ने सोचा,
शंका ने अंतर को उसके, चपल, दबोचा—
'जाने मम नंदन को कैसी देते होंगे
शिक्षा गुरुजन ! कैसे शास्त्र पढ़ाते होंगे !
जाने वह पगला कैसा क्या सीख गया हो !
गुरुकुल में रह, विद्याभ्यास अनल्प किया हो !
देखूँ सब, आज बुला कर उसको महलों में
कर विचार यों, बैठे गगनोन्नत महलों में—

"भर मन में तरंगायमान-हर्ष, बुलवाया
प्रह्लादकुमार, भवार्णवतारक को, माया—

काम–क्रोध–लोभादि–विरोधि–वर्ग–हारक को,
कलुष–जाल–महा–उग्र–वन–कठिन–कुठारक[1] को
हरिचिंतन–सुधापान–मत्त–चित्त मधुकर को,
राक्षस–पति ने, वत्सल भाव लिये सुतवर को !

"दूतों के पीछे प्रह्लाद आ गया तो लख,
असुरेश्वर दौड़ा आगे को, भर हर्ष–पुलक,
बरसा कर प्यार बिठाया, गोदी में सत्वर,
अधमूँदे नेत्रों में आँसू भर, सूँघा सर,
बोला उत्कंठित हो—"वत्स ! आ गये हो तुम ?
सारे पढ़ आये क्या, वेद–शास्त्र बाबा तुम ?
शक्तित्रय उत्साह–प्रभु–मंत्र विभूषित वर
उद्योग–कला संवित्–ज्ञान–संपदा उर्वर—
जान लिये हैं ना ? टुक बोलो मधु स्वर में भर !

"जनकों के लिए सदा होते सुख-पोषण हैं,
'अनुदिन संतोषण हैं, दुख के संशोषण हैं—
ताप और श्रम के; कानों के वर भूषण हैं,
आत्मनंदनों के, हे तात ! मधुर भाषण हैं !
कहना, सो, वत्स ! कौन–सा मारग है उत्तम ?"
बोले पुत्र पिता से,—"सुनिये हे असुरोत्तम !

"गृहरूपी अंधकूप में गिरने से बच कर,
'तू' 'मैं' मेरा, इस झूठे भ्रम में ना फँस कर,

१ जो कठिन फरसा बना हो ।

प्रभु की दिव्य कला का, अग जग को, खेल जान,
देहधारियों का, निजमन केंद्रित कर महान—
विष्णुदेव पर, चितायें सारी वर्जित कर,
जाना वन में उत्तम है, मोह विसर्जित कर !"

"सुत की बातें सुन कर, शत्रु–प्रशंसा–पूरित,
हँस बोले दानवपति, आँखें कर विस्फारित—
'जैसे कहते हैं गुरु' वैसे दुहराते हैं—
औरों के शिशु, अंतर तनिक नहीं लाते हैं।
कैसा अचरज है ! बालक को शत्रु–प्रशंसा
सिखला दी क्या कहीं किसी ने, यह कु–प्रशंसा !

"'कैसा आश्चर्य लाल मेरे ! यह दुष्ट बुद्धि
मन में उपजी है तुम्हारे ? या क्रूर–बुद्धि
किन्हीं लोगों ने सिखलायी ? या भार्गव सुत
बोले क्या पा कर एकांत तनिक ? सुन लो सुत
अपनी दानवसंतति के प्रति है अपराधी
वैकुंठनिवासी, उसको गुनते तुम क्यों जी ?

"'मार भगाना सुरगण को, सुराधिपतियों की
नाकों दम कर देना, या कि धूर्त मुनियों की—
धज्जियाँ उड़ा देना, सिद्धों या यक्षों का
किन्नर, गंधर्व, विहग, नाग–कुलाध्यक्षों का
सर्वनाश करना, शोभा देता है, डट कर !
भ्रष्ट क्यों बनोगे सुत अंधे ! 'हरि' 'गिरि' रट कर ?'

"बोले प्रह्लाद सुन पिता की बातें, लख कर–
राज पुरोहित को—'मोहों का उन्मूलन कर
जिसमें होने पर तल्लीन, ज्ञान-वर पा कर,
रहते हैं पुरुष 'निज' 'पराये' का भ्रम खो कर—
माया प्रेरित अपरिग्राह्य असत् के हो कर—
परे! उस परेश को प्रणाम करूँ नत हो कर!

"'हम' 'तुम', यह भेद–भाव रख मन में, मायावश
मूरख जन सर्वात्मक[1] प्रज्ञागोचर[2] का यश,
अन्वय क्रम के साथ न गायन कर पाते हैं!
उस जिज्ञासा–पथ में मूरख बन जाते हैं—
सोचें तो, चतुरानन आदि वेद-ज्ञाता भी!
कैसे, परमेश विष्णु का पावन दर्शन ही—
प्राप्त करेंगे, तब, दूसरे लोग सहज कहीं?
काम यह नितांत कठिन है, कोई खेल नहीं!

"चुम्बक के सम्मुख लोहा ज्यों भ्रम जाता है,
हृषीकेश में तो मेरा मन रम जाता है!
दैवयोग है यह विप्रोत्तम! किसका वश है?
भ्रांत चित्त यह मेरा, आज, न अपने वश है!

"मंदार–मरंद–माधुरी में तिरने वाला–
मधुप धतूरों के पीछे कब जा पायेगा?

१. सर्वांतर्यामी
२. प्रज्ञा द्वारा जो देखा या पाया जाता हो—हरि।

निर्मल–मंदाकिनी–तरंग – डोलिका – सुख तज,
राजहंस तुच्छ तलैयों में क्यों जायेगा ?
मादक भोजी, ललित रसाल पल्लवों का—
पुंस्कोकिल, कटु कुटजों को, क्या विलोक पायेगा ?
पूर्ण सुधाकर की मधु ज्योत्स्ना तर्पित चकोर
नीहारों को सांद्र[1] कभी मन में लायेगा ?
कमलनाभ के दिव्य–पदारविंद–स्मरणामृत,
पी पी कर, मत्त बना चित्त–मधुप जायेगा—
औरों के पीछे क्यों कर ? भला ज़रा सोचें !
विनुतशील[2] ! कोरे वचनों से क्या होवेगा ?"

सुन वाणी यह, राज–पुरोहित अति रुष्ट हुआ,
सेवक जो था बेचारा, उसको कष्ट हुआ !
बोला भृकुटि चढ़ा प्रह्लाद को तिरस्कृत कर—
"कितना ढीठ बना तू ? बड़ों को तिरस्कृत कर—
करने लग गया है प्रलाप, बड़ा तार्किक बन
छोड़ सभी शास्त्र गहन, सीखे जो ! कुल दूषण !
पाँच बरस का बालक ! बित्ते भर का छोरा !
राक्षस पति के सम्मुख, अरिका पीट ढिंढोरा,
सर नीचा, आज[3] हमारा तूने, कर छोड़ा !

"पुत्र नहीं हो सकता, दैत्येश्वर का है यह—
शत्रु ! हुआ है पैदा काँटों का बन भूरुह—

१. सघन ओस के बादलों को; २. प्रशंसनीय चरित्र वाला ।
३. हाय ! (पाठ)

चंदनवन में ! राक्षसकुल–नाशक का निसिदिन–
स्तवन–प्रशंसा करता रहता है, पापी बन !
धर लो इसको, बाँधो हाथ पैर, औ' पीटो
दण्डित हो कर सुधरेगा, वरना न, घसीटो !

"शिशु को भवदीय, पढ़ायेंगे चतुराई से,
शपथ तुम्हारे चरणों की, अधिक कड़ाई से,
डाँट बता, बेंत लगा और डरा धमका कर !
क्रोध न कर दें हम पर, सुन लें दानवकुंजर !"

ले जा कर राजकुँवर को राज सभास्थल से,
भीति दिखा कर विविध उपायों से छल बल से,
पा कर एकांत, शुक्र नंदन ने समझाया,
वर्गत्रय क्रम से दिन प्रतिदिन खूब सुझाया।
अनुपम प्रतिभा, अर्गल–रहित बुद्धि–बल दिखला,
कर परंपरा की रक्षा, रहस्य सब बतला,
साम–दाम–दंड–भेद सब उपाय सिखलाये।
निश्चय कर आखिर यह—'शिशु ने सब सीख लिये,'
ले गया समीप, उसे माता के, दिखलाया।

फूल उठी मैय्या, कुल दीपक सुत को निहार,
पहनाये प्रीति सहित, पाटंबर तार हार।
देख अलंकृत यों, निज शिष्य को विलोक कहा
दुलरा कर गुरु ने, उसकी टुड्डी पकड़ कहा।—

"सुन भैय्या मेरे ! ओ प्यारे राज दुलारे—
विचलित होना मत से श्रेष्ठ, न तनिक, हमारे,
भूल न जाना त्रिवर्ग—पाठ जो पढ़े तुमने,
अन्य नहीं कहना कुछ, छोड़ जो कहा हमने !
आज दैत्य विभु के आगे, जरा कृपा करके
खोलो मत—नीति के प्रसंग हमारे अरि के,
दुष्ट—चरित—विष्णु के प्रभाव, विधर्मी हरि के !"

माधव की स्मरण—मनन—माधुरी सुधा में, पग
धरता था, पग—पग पर, तन विसार जो डगमग,
पद्मगर्भ जैसों की पहुँच के परे की, हरि—
भक्ति का बना हो, जो रूप, स्वयं, कल्मष अरि,
मातृ गर्भ में जीवन पाने से ले कर जो,
अच्युत पर चित्त लगाये, क्षण—क्षण रहता हो,
बन अंतर्मुख, अपने में सारा जग विलोक,
विष्णु—देव—मय, जो खिल उठता हो भूल शोक,
नम्रता, विवेक, शेमुषी, करुणा सब सद्गुण
जिसमें रहते हों करते निवास, शुभ लक्षण,
ऐसे वर शिष्य वंदनीय को, सुधी जन के,
कर आगे, कह कर छूने चरण पिता गुरु के—

बोला भार्गव—नंदन दितिनंदन—पति से तब
प्रिय वाणी में- "राक्षस कुलशेखर ! देखें अब,

शिक्षा दी है हमने उत्तम तव नंदन को,
छोड़ शत्रु के चरित्र, दैत्य–वंश–चंदन[1] को।
कोविद बन गया नीतिशास्त्रों में, सब, कुमार
देखें, परखें विद्याबल इसका बेशुमार[2]।"

सुन भार्गवनंदन की वाणी, दानव वल्लभ,
कर के दंडवत सामने खड़े हुए वल्लभ—
सुत पर बरसा आशीर्वाद, बाहु फैला कर,
ले कर सन्निकट प्रेम से, गाढालिंगन कर,
गोदी में बिठा, कुटिल अलकों को सुठि सँवार,
ठुड्डी पर धर उंगलियाँ, कपोल चुंबन कर,
सूँघ शीर्ष, प्रेमाश्रु–प्रवाह में भिगो बैठा,
नंदन का वदन! मंद मधुर वचन कह बैठा—

"रह आये इतने दिन गुरुओं के पास, सुधी
जाने उनने क्या ज्ञातव्य सिखाये? अति ही
उत्तम विधि से तुम को, कैसे ग्रंथ पढ़ाये!
विद्या बल देखूँ तव, क्या–क्या सब पढ़ आये!
पढ़ कोई श्लोक, शास्त्र से, अपने मन भाये
अर्थ सहित विवरण दो, मन मेरा सुख पाये!

"साथी दानव बालक तुम्हारे गुरुकुल के,
जान गये सब रहस्य नीति पाठ के! खुल के

१. जो राक्षस कुल रूपी वन के लिए चंदन हो!
२. पाठ—अब अपार

व्याख्या करते हैं सब ग्रंथों की, पंडित बन,
नजरों में उनकी तुम रह गये अपंडित बन !
आशाओं के सागर में कब से पैठा हूँ,
तव प्रतिमा देख सुखी होने को बैठा हूँ !
राजा बेटे मेरे ! विद्या बल दिखलाओ
मुझ को, मन में मेरे विपुल हर्ष भर लाओ !

"बोला तब प्रिय नंदन प्रह्लाद पिता से यों—
'ख़ूब पढ़ाया मुझको गुरुओं ने, सब विषयों—
को, धर्म व अर्थ नीतिशास्त्र ! पढ़े सब मैंने
तात ! सार सब पढ़ाइयों का जाना मैंने।"

"'तन मन वाणी द्वारा सख्य, श्रवण, दास भाव,
वंदन, पूजा–अर्चा, चरणकमल सेवा, भव–
नाशक के सम्मुख सर्वात्मनिवेदन, कीर्तन,[1]
उसके शुभ नाम रूप गुण का नित–प्रति चिंतन,
नव प्रकार के इन भक्ति पथों द्वारा हरि पर,
सर्वांतर्यामी उन पुरुषोत्तम भव–हरि पर
डाल सभी भार, सच्चरित्र बने रह जाना,
दैत्यराज ! श्रेष्ठ समझता हूँ, सच, यों जीना !

"अंधों के चंद्रोदय, शंखनाद बहरों के,
सद्ग्रंथाख्यापन[2] के सपने ज्यों गूंगों के,

१. (भव) नाशक को अपने में जान बैठना कीर्तन—पाठ
२. सद्ग्रंथाध्यापन—पाठ

नवकिशोरियों की कांक्षाओं–सी, हिजड़ों की,
घोर कृतघ्नों के ज्यों बंधुभाव, लुब्धों की—
निधियाँ ज्यों गुप्त, कोढ़ियों के नव परिमल ज्यों,
दग्ध–हवन–द्रव्य सदा होते हैं, निष्फल ज्यों,
उसी भाँति, हरि–भक्ति–विहीन व्यर्थ जीते हैं,
उनके परिवार भी सदा रीते रहते हैं!

"कर लें अर्चा–पूजा, कमलनयन हरि की जो,
कर वही कहाएँगे, पितृपाद! देखें तो!
कर ले वर्णन, श्रीपति की दिन भर जिह्वा, जो
कहलायेगी वही सुजिह्वा यदि लेखें तो!
कर ले दर्शन, सुर–संरक्षक की, चितवन, जो,
कहलायेगी वही चितवनें, प्रभु देखें तो!
कर ले वंदन, फणिपतिशायी का, मस्तक, जो,
कहलायेगा मस्तक वही पूज्य, सोचें तो!
कर लेता, श्रवण विष्णु गुण का आकर्णन, जो,
कहलायेगा श्रवण वही, बापू! जानें तो!
कर ले, मधुहर हरि का नित–प्रति चिंतन मन, जो
मन वही कहायेगा, और सभी छोड़ें तो!

"कर ले 'परिकरमा', भगवन की प्रतिदिन पद, जो
पद वही कहायेगा पूज्यपाद! समझें तो!
पुरुषोत्तम को घेरे बुद्धि रहे निश्चल जो
बुद्धि वही कहलायेगी सच्ची, सोचें तो!

देवदेव का चिंतन जिस दिन में होता हो,
चक्रधरगुणानुवाद जो विद्या करती हो,
कुंभिनी–मनोहर को जो गुरु बतलाता हो,
हरि को भजने की जो पिता सीख देता हो,
वह दिन, वह विद्या औ' वह देशिक, वही तात
धन्य धन्य हैं जग में, सत्य वचन यही तात !

"कंजनेत्र की न बनी तो काया काया क्या
पवन–भरित–चर्मभस्त्रि[1] ही तो कहलायेगी।
वर वैकुंठ का गान न करे, वह मुँह मुँह क्या ?
'डिमडिम' करने वाली डुगडुगी कहायेगा।
हरिपूजा से विरक्त हाथ हाथ ही है क्या ?
तरु–शाखा से निर्मित कलछी कहलायेगा।
कमलापति को लख न सके, वह चख चख ही क्या ?
तन की दीवार के गवाक्ष ही कहायेंगे।
चक्रपाणि–चिंतन बिन जनम जनम ही है क्या ?
वर्षा की बूंदों का बुदबुद कहलायेगा।
पुरुषोत्तम–भक्ति–रहित पंडित पंडित ही क्या ?
दो पायों वाला वह पशु ही कहलायेगा।

"सांसारिकता के जीमूत संघ कब खुलते,
चक्रपाणि–दास्य–प्रभंजन–झोंके लगे बिना ?

१. लुहार की धौंकनी।

घोर त्रयी–ताप–दवा–वह्नि–जाल कब बुझते,
विष्णुचरणसेवाऽमृत–वृष्टि विपुल हुए बिना ?
सर्वंकष–अघ–समूह–सागर कब शोषित हों,
बडवानल–ज्वाल, हरि मनीषा[1] के लगे बिना ?
घोर संकटों के घन अंधकार कब मिटते,
पद्म–नेत्र–स्मरण–तपन–किरणों के लगे बिना ?
अनुपम पुनरावृत्तिविहीन औ कलंकहीन
मोक्ष की अनंत महानिधि कब दिख पायेगी ?
शाङ्गर्धर महाप्रभु के कोदण्ड–स्मरण–रूप
अंजन बिन वनज–गर्भ[2] तक को, हे असुरेश्वर ?"

अपने सुत के इन निर्भीक ढीठ वचनों को,
तीखे शूलों सम लगने वाले कानों को,
सुनते ही भृकुटि चढ़ा, होंठों को फड़का कर,
गुस्से से पागल बन, गुरु सुत को धमका कर,
दानवपति बोला यों—'सौ सौ क़समें खा कर,
नीतियुत बनाने को बच्चे को ले जा कर,
सिखला बैठे हो उसको विरोधि–शास्त्र सभी,
अनुचित, अति कुटिल बुद्धि से प्रेरित दुष्ट सभी !
समझ लिया था तुमको, भार्गवनंदन हमने !
सौंप दिया था शिशु को ! किंतु क्या किया तुमने ?
ब्राह्मण की देह मात्र धर बैठे हो तुम तो !
धिक् है, सच्चा ब्राह्मण बन न सकोगे तुम तो !

१. हरि समर्पित बुद्धि २. ब्रह्मा

"विधि-निषेध का विचार छोड़ विचरने वाले—
जन को रोग सताते हैं, मर्म सभी घाले।
वैसे ही औचित्य-विचार सब विसर्जित कर,
दुष्ट-मंत्र अपना कर, धर्म-मार्ग वर्जित कर
चलने वालों को अघ लेते मुट्ठी में कर!"

सुन राजा की झिड़की, ब्राह्मण बोला झुक कर,
"असुरेश्वर! हम हैं निर्दोषी, अरिशास्त्र अवर
नहीं पढ़ाये हमने, औरों ने भी बन कर
क्रूर नहीं सिखलाये! सच है, तव पद छू कर
कहता हूँ! कर लें विश्वास! आपके सुत की
सहज मनीषा यह सब, जन्म जात है! इसकी
सोचें कुछ औषधि औ' प्रतीकार बुद्धि लड़ा,
कौन पढ़ा पाये इसको? कर लें जतन बड़ा!

"हम हैं तव मित्र औ' पुरोहित हैं कृपा-पात्र,
ऊपर से भार्गव हैं, आदर सत्कार-पात्र!
दानव-जलधि-सुधाकर! हम क्या तव अरि जन हैं?
बालक की बुद्धि बिगाड़ें, ऐसे दुर्जन हैं?"
गुरु नंदन की वे बातें सुन कर दैत्येश्वर
गुस्सा सब पी बैठा, बोला सुत को लख कर।

"बालक! तुमको, मेरे आत्मज को, ये बातें
जिनको गुरुओं ने ना सिखलाया, कटु बातें

किसने बतला दी हैं, गुरु-सा दीक्षा दे कर ?
उसका नाम बताओ मेरे सम्मुख आ कर !"

फिर बोला प्रह्लाद पिता से निर्भय हो कर—
"अंध तमस में, गृह के व्रत विषयों में खो कर,
मर-मर, जी-जी उठ कर, धन जन के चक्कर में
पिसने वालों के मन में, जग के चक्कर में,
कैसे अंकुरित हो उठेंगे, सरपट क्षण में,
औरों के कहने पर या कि आप ही, वन में
जाने पर, अथवा जो चाहे सो देने पर,
हरि के कल्याण-बोध ? सोचें दानवशेखर !

"अंधे का हाथ पकड़ चलने वाला अंधा,
देख नहीं पाता चीज़ें सब; गोरखधंधा
जग में है विद्यमान, कर्मबद्ध जन कतिपय
कर्मों में आस लगाये रह करके, अतिशय-
करुणामय विष्णु को विलोक नहीं पाते हैं।
किंतु भाग्यवान कुछ, उन्हें विलोक पाते हैं,
जिनके गुरु कर्म, अकिंचन वैष्णव-चरण-रेणु
धरने पर माथे, मिट जाते हों, कामधेनु !

"अलंविस्तरण ! सुनें राक्षस-वल्लभ मेरा
दृढ निश्चय, शास्त्र सभी पढ़े गये हैं, गहरा
अध्ययन किया मैंने सबका, तब कहता हूँ—
बिना हरि-समर्पित-मति-नौका के, कहता हूँ

दुष्ट-बुद्धि का ले आश्रय, तरना शक्य नहीं,
संसृति–सागर तरना, यह अपार, शक्य नहीं,
गरज रहा है जो मद–क्रोध की तरंगों से,
पुत्र–वधू–वांछा–तिमि–नक्र तुंग भंगों से !"

सुन ऐसे वचन क्रोध से पागल हो उट्ठा !
गोदी से सुत को धकिया कर खट से उट्ठा !
आँखों से फूटी लपटें नभ में फैल गईं,
हिंसा की ज्वालायें धू–धू कर फैल गईं !

गरज पड़ा सचिवों को देख असुरनायक यों
"देखा जनक–द्रोही को ऐसे तुमने ? क्यों ?
सूकर बन चाचा को मारा हरि ने रण में !
तनिक भी नहीं करता, यह तो, गुस्सा मन में !

"उलटे बन किंकर उस असुरविरोधी का तो,
करता है निसिदिन गुणगान, हाय मेरा तो
प्राण सुखा लेता है ! बैर ठान कर मुझ से,
पाँच बरस का, तनिक नहीं डरता, यह मुझ से !

"समझा कर हारा मैं, एक नहीं सुनता है,
कर मेरा निराकरण दुश्मन को गुनता है,
सुत का धर रूप, व्याधि घातक उत्पन्न हुई
तन में मेरे; आत्मा मेरी अति खिन्न हुई ।

ले जाओ इसको मेरे सम्मुख से सत्वर,
वध कर आओ इसका, दनुज शौर्य दरसा कर !

"अंगों में जब कोई अंग बिगड़ जाता है,
करने पर योग्य चिकित्सा भी, सड़ जाता है,
काट उसे गुनी वैद प्राण बचा लेता है
और सभी अंगों का त्राण किये देता है।

"करनी होगी मुझ को भी यही चिकित्सा, तब !
जाति–वंश–द्रोही इस केशव–प्रतिनिधि का अब–
अधमाधम पामर का, कुजनों के साथी का,
तुरत वध करा दूँगा, धो लूँगा निज कुल का
पंक सब; बनूँगा पृथु वीर यशी निज कुल का !

"यह है हन्तव्य धूर्त, रक्षा के योग्य नहीं।
यम–नगरी का है गन्तव्य, क्षमा–योग्य नहीं।
वध का उपरंतव्य[1] नहीं समझो इसको तुम,
खंड–खंड कर फेंको ले जा कर इसको तुम !"

पा कर दानव पति की आज्ञा यह राक्षस–भट,
लंबी तीखी दाढों वाले अनगिन उद्भट,
शूल लिये हाथों में, खोले मुख प्रलयंकर
गर्जन तर्जन करते, ताम्र–केश लिए प्रखर,

१. जो वध के योग्य नहीं

धुआँ उगलने वाली दावा ज्वाला बन कर,
टूटे प्रह्लाद पर तुरत भेदन छेदन कर !

'नन्हा–सा बच्चा है, राजकुँवर है प्यारा,
दयावान, साधुमना, लोकमान्य है न्यारा,
सच्चरित्र है, इससे वध का है योग्य नहीं !'
सोच न पाये यह, उनमें रहा विवेक नहीं !

क्रूरता भरे मन में अंग–अंग बालक का,
छेद लिया शूल–प्रहारों से, गुरु बालक का !
किंतु वाह री क्षमा ! मुरारि–पुत्र की, राजन् !
होंठों से निकला प्रतिषेध का न स्वर, राजन् !

बीसों राक्षस वीर, प्रहार लग गये करने
तो, बालक का शरीर तनिक ना लगा दुखने,
हाड न टूटे, गूदा मांस पेशियाँ न कुटे,
चिकना चमड़ा, आँतडियाँ किंचित् भी न टुटे !
नेत्र–ज्योति मिट न सकी, मुख–प्रकाश हट न सका,
सहज–शक्ति घट न सकी, दीन भाव उठ न सका !

दंडित हो यों निशाचरों से, दानवनंदन
भक्ति मगन रटने लग जाता—"हे अरिभंजन !
पन्नगशायी–प्रभु ! जगदीश ! अखिलजगपावन,
जय हो ! तेरी जय हो ! दीन–विपन्न–जनावन !"

बस, इसको छोड़ किसी से कुछ ना कहता था,
अश्रु न भर लाता था, आतंक न पाता था।'

भाग न उठता था दिशियों में, फैला बाँहें,
रोक न देता था असुरों को, भर कर आहें,
बंधुजनों में लुक-छिप बैठ नहीं जाता था,
आक्षेप पिता पर निज, तनिक ना लगाता था,
"क्रूर कर्म है!" कह कर आक्रोश न करता था,
मित्र जनों को ही, अपने, नहीं बुलाता था।
रनवासे के कंचन-महलों में घुस करके,
माताओं की जा कर शरण, दीन बन करके—
"हाय बचाओ मैय्या!" कह कर ना रोता था।
लेशमात्र भी तापित, कंटकित न होता था!

सर्वव्यापी अवर्णनीय ब्रह्म आप बने,
विष्णुदेव में उन, निज चित्त लगा लीन बने,
आनंद के सिंधु में अपार तैरने वाले,
बालक प्रह्लाद पर, निरंतर होने वाले
राक्षसेंद्र – किंकर गण के वे संहार – कर्म,
पापी के प्रति होने वाले सत्कार-कर्म
बन कर, सब विफल हुए, तो शंकित चित्त लिये,
सोचने लगा राक्षस-पति चक्रित चित्त लिये!

अश्रु न भर लाता था, भयकंप न रखता था—पाठांतर

"कैसा आश्चर्य भला ! शूल लिये राक्षस गण
देह को लगे करने छलनी तो बन उनमन,
रह जाता बालक यह ! भूमि पर न गिरता है !
भाग न उठता है, ना प्राण गँवा मरता है !
आ कर मुझ जनक के समीप, दण्डवत गिर कर,
माथा रख चरणों पर, कान पकड़, यह कह कर
'चक्र सुदर्शनधारी को मैंने छोड़ दिया
तात ! बचाओ, मैंने हरि से मुँह मोड़ लिया !'
याचना क्षमा की, कर बैठता नहीं उठ कर !
क्या कारण, निर्भय निरपाय[१] खड़ा है डट कर ?"

शंका से आंदोलित बन कर यों दानवपति
अभिनव अत्याचार लगा करने सुत के प्रति !
बुलवा कर आठ दिग्गजों को, वर बालक को
उनके पाँव तले मर्दित करवा देता था।

मंगा कर घोर विषैले नागों को, सुत को,
गुस्से में बन पागल, कटवाये देता था।
प्रलयकाल–अग्निशिखाओं में निज नंदन को,
निर्दय बन झोंकने, कभी भेजा करता था।

घूर्णित गंभीर महासागर में, अर्भक को
ममता वात्सल्य त्याग, फिंकवाये देता था।

१. बिना किसी विपत्ति के।

ज़हर चटा देता था, काट गिरा देता था!
गिरि–शिखरों पर से नीचे ढकेल देता था!
बंधन में सुदृढ रज्जुओं के, कस देता था!
क्रूर यंत्रणाओं का लक्ष्य बना देता था!

कभी करा देता अभिचार होम और कभी
जलती धूप में खड़ा, शिशु को, कर देता था।
कभी भिगो देता मूसलाधार वर्षा में
और कभी हिम में एकांत खड़ा करता था।

कभी भेज देता झंझा के सम्मुख सुत को,
और किसी समय ज़मीं में गड़वा देता था।
खाना पानी न दिला देह सुखा देता था।
कोड़े लगवा, चट्टानें फिंकवा देता था।
गदा से कुचलवाता, शर–वृष्टि करा देता,
अमर–शत्रु नंदन को ख़ूब दुःख देता था!

किंतु सभी मारण–उच्चाटन के कर्म नये,
बालक पर उस अद्‌भुत, सबके सब व्यर्थ हुये!
शिशु का निष्पाप, बाल तक बाँका हो न सका,
लख कर यह असुरेश्वर, दुख–चिंता ढो न सका।
मन में तूफ़ान उठा उसके, इक ज्वार उठा,
पा कर एकांत, आप यों सोच-विचार उठा!

"वारिधियों में डुबो दिया, गदा प्रहार किये,
शैलतटों से नीचे गिरवाया, शस्त्र लिये—

घात कराये बहुविध, मद गजगण को ऊपर
दौड़ाया, चट्टानों को फिंकवाया उस पर।
धिक्कृत कर शाप दिये और कई जतन किये।
कैसा अचरज! जीवित है अक्षत गात लिये!

"जानता नहीं औषध संजीवन; अभिभावक
अन्य नहीं है कोई मेरे बिन; यह अर्भक
घोर यंत्रणाओं का बन कर भी लक्ष्य, नहीं
खो बैठा सहज तेज, रखना कुछ जाड्य नहीं।

"चमक रहा है नवनव कांति लिए हा, क्षण–क्षण,
पल भर को भी पाता नहीं दैन्य है निसि दिन!
हारा मैं! क्या कर लूँ? प्राण किस तरह ले लूँ?
महिमा इसकी अद्भुत! चिंता कैसे झेलूँ?

"यही नहीं, पुरा समय शुनश्शेप मुनि कुमार
सौंपा जा, बलि पशु–सा जनक से, बने उदार,
शत्रु नहीं समझ पिता को अपने, वज्रसार,[१]
जीवित निकला बलिवेदी से बन निर्विकार!

वैसे ही, ग़ुस्से में आ कर, मैंने जितने
अत्याचार किये थे निर्मम, उनको सपने
में भी अपकार नहीं, मन में यह कहता है,
न हो कर, उलटे उपकार समझता है!

१ पाठ—शत्रु नहीं समझा उसको, मन के वज्रसार,

"इसका तात्पर्य यही, यह बालक है उत्तम
तपःशक्ति–संरक्षित पुरा–जन्म–कृत – गुरुतम !
भय न स्पर्श कर सकता है, इसका अगजग में !
अचल भक्ति भरी हुई है, इसकी रग–रग में !

"निश्चय ही वैर ठान इससे, सिद्ध करूँगा
अपनी ही मृत्यु मैं, पराजय प्राप्त करूँगा !
इसमें संदेह नहीं !" सोच यह विषण्ण बने,
खो प्रसन्नता, मुँह लटकाये अति खिन्न बने,
नज़रें कर नीची रह गया कनककश्यप था।
देख उसे सन्न, कहा शुक्र नंदनों ने था।

"शुभ्र कीर्ति मंडित हो ! अद्‌भुत है तव प्रताप,
दैत्येश्वर ! रोष–भ्रू–भंग–मात्र का प्रभाव
तुम्हारा, दिक्पतिगण को परास्त कर रण में,
वश में कर बैठा है, सकल विश्व को क्षण में !

"शिशु की क्या गिनती ? ये व्यर्थ के प्रलाप सभी
कारण हैं गुण–दोषों का ! है प्रह्लाद अभी
बालक, अति वक्र–बुद्धि, वृद्ध गुरुजनों की से–
वा से औ' वय के परिपाक भव्य होने से,
अपने ही आप सुधर जायेगा, धीयुत बन
शुक्राचार्य के आगमन तक सुश्रीयुत बन !
कर लो इंद्रद्वेषी, इस प्रकार सुत को तुम।
तज लो गुस्सा तब तक, यह राजन, मन में तुम !"

गुरु पुत्रों की बातें सुन असुरेश्वर बोला—
"राजाओं के योग्य त्रिवर्ग पढ़ाओ! भोला
यह प्रह्लाद कहीं उससे विवेक पा जाये!"
पा वह आदेश, गुरुसुतों ने तुरत पढ़ाये,
धर्म, अर्थ, तथा काम के रहस्य बतलाये।
किंतु भक्तवर के मन को वे कुछ ना भाये।

विषयी लोगों के संसेव्य उन त्रिवर्गों को,
ग्राह्य नहीं मान, जान सृष्टि के विभेदों को
केवल व्यवहार-जन्य, एकमात्र आत्मा के,
नाना परिणाम अशाश्वत, अभिन्न आत्मा के,
'अर्थारोपण कर लेना अनर्थ विषयों में—
भ्रम है भारी!' ऐसा निश्चय कर, गुरुओं में
औ' उनके शास्त्रों में विश्वास नहीं रख कर,
उनकी अनुपसिथति में, अवसर अच्छा लख कर,
खेल-कूद में उत्सुक निज गुँइयों को पा कर,
मृदुल मधुर वचनों में सबके मन बहला कर,
निसिचर पुत्रों को उन समझाया करता था,
प्रतिभा दिखला उनका मन भाया करता था।

"बंधु हमारे सुन लो! गुरु यह ठग है भारी।
विद्या अच्छी एक नहीं सिखलाता, जारी
है इसका खटराग सदैव सुदृढ बंधन का।
देता रहता है उपदेश, मात्र बंधन का।

सुन लो, कहता हूँ असली विद्या भवतारक !
आओ ढिग मेरे, जानो रहस्य सुखकारक !"

पा कर एकांत, खेल-खेल में सिखा देता
दैत्य बालकों को ध्रुवसत्य यों दिखा देता—
"बच्चो ! लो, साथी हम लोगों के कुछ निसिदिन
मरते जाते हैं, देख रहे हो ना प्रतिदिन ?

"गुरु है यह क्रूर, अनर्थों में दुश्चिंतावश
अर्थारोपण कर, फुसलाता हमको बरबस !
इसके ये शास्त्र तिरस्कार-योग्य हैं, इनको
छोड़ो, मेरी सुन लो, श्रेय मिलेगा तुमको !

"और भी सुनो ! सभी जन्मों में, धर्म और अर्थों को संपन्न करने में सहायक मनुष्य का जन्म, कठिनता से प्राप्त होता है। और उसमें पुरुष का शरीर पाना और भी कठिन है। यह मानव जीवन तो सौ बरस का होता है, जिसका आधा हिस्सा अंधकारमय रात्रि के रूप में, निद्रा वगैरह व्यापारों में व्यर्थ ही व्यतीत होता है। बाक़ी पचास वर्षों में, बचपन किशोरावस्था आदि दशाओं में, बीस वर्ष निकल जाते हैं। शेष तीस वर्ष इंद्रियों के पंजे में जकड़ कर, दुर्जेय काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर नामक पाशों में बँध कर, उनसे छुटकारा न पा कर, प्राणों से भी मधुर लगने वाली तृष्णा का वशवर्ती बन कर, नौकरी, चोरी, वाणिज्य आदि व्यापारों में फँस, प्राणों की हानि तक को स्वीकार

कर, दूसरों के स्वत्वों को हड़पने का संकल्प किये, रूप, यौवन व गुप्त संभोग चातुरी आदि से पुष्ट रह कर, धैर्य-लताओं के लिए लवित्र बने कलत्रों को, मुग्ध मंजुल मधुर भाषाओं से अपने हृदय हरने वाले शिशुओं को, शील, वय, रूपों में अनुपम कन्याओं को, विनय विवेक व विद्यालंकृत कुमारों को, कामनाओं के प्रदाता भ्राताओं को, ममता, प्रेम व दैन्य भावों के जनक जननी-जनकों को, सकल सौजन्य के सिंधु बंधुओं को, धन.कनक-वस्तु-वाहनों से सुन्दर मंदिरों को, अत्यंत सुकर पशुभृत्य-निकरों को, वंश-परंपरागत वित्तों को वर्जित न कर पा कर, सांसारिकता को निर्जित करने का उपाय न प्राप्त कर, तंतुवर्ग से बुन कर निर्गमन–द्वार रहित बने मंदिर में फँस, निष्क्रमण मार्ग न देखने वाले कीड़े की भाँति गृहस्थ स्वयंकृत कर्मों में बद्ध हो, शिश्नोदरादि विषयों में भूल कर, निज परिवार-पोषण में रत बन कर वैराग्य मार्ग का ज्ञान न रख, अपने पराये के चक्कर में पड़ा गहन अंधकार में फँस जाता है ! अतः कुमारावस्था ही में मनीषा को पुष्ट बना कर, मानव, परम-भागवत-धर्म का अनुष्ठान करे। अयाचित व अवांछित हो कर भी दुःख जिस प्रकार संप्राप्त होते हैं, उसी प्रकार समय पा कर सुख भी उपलब्ध होते हैं। अतः व्यर्थ के प्रयासों में आयु को नष्ट करना अनुचित है। हरि भजन करने से मुक्ति सिद्ध हो जाती है। भगवान विष्णुदेव समस्त प्राणि समूह का आत्मेश्वर है, प्रियतम है ! मोक्ष की चाह करने वाले

का, देहावसान पर्य्यंत एकमात्र परम कर्तव्य है—नारायण चरणारविंद-संसेवन !

"देख लिया है ना अपने गृहस्थ लोगों का
पागलपन, असफल अति अभिमानी लोगों का ?
बन कर इच्छुक कल्याणों के, ना छुट पाये
भव से, उसके जबड़ों से मुक्ति न लख पाये !

"सभी योनियों में, गर्भादि अवस्थायें धर
देही बन पुरुष, जनम लेता है नवनव धर !
अपने को नहीं जान, कर्म का वशंवद बन
मुक्ति पा न पाता, शत जन्मों में भी दुर्मन !
इसमें कुछ लाभ नहीं, क्षेम नहीं है, कीर्ति न !

"फिर-फिर जी कर जग में क्यों नर मिटता जावे ?
जीने मरने की झंझट से छुटकारा दे,
ऐसे पथ का करना अन्वेषण, कहलाता
गुरु विवेक उत्तम, श्रेयस्कार समझा जाता।

"हाला-पान-विजृंभित मद-दर्पित देह लिये,
यौवन-श्री-घूर्णित-बाला, चितवन पाश लिये,
लघु हास बिखेर बांध रखती है क्षण भर में,
चोटी के विद्वत्पंडित को भी गुरु भ्रम में !

"बन कर मृग-छौना रमणी-हेला-कर्षित, वह
वेला-निस्सारण-मार्ग तनिक न पा कर दुर्वह,

हीन दशा को पा जाता है, सुध बुध खो कर !
सुन लो मित्रो ! तुरत सँभल जाओ बुध हो कर।

"विषयों में डूबे राक्षस गण के सँग जीना
ठीक नहीं है। वांछा मुक्ति मार्ग की रखना।
आश्रय में जाओ शैशव ही में सब मिल कर
विष्णुदेव के, मुक्त जनों के सँग हिलमिल कर !

"इस कारण, विषय-भोगों के दास बने रहने वाले राक्षसों के लिए, हरि कीर्तन संभव नहीं है। यह मार्ग रमणीय है, किंतु प्रयास करने पर ही प्राप्त होता है। ध्यान से सुनो। समस्त भूतों का आत्मेश्वर बन कर, सर्वदिक्काल-सिद्ध बने चतुरानन से ले कर, चर अचर, स्थूल एवं सूक्ष्म प्राणि-समूहों में, जल, वायु पृथ्वी गगन तथा तेज नामक महाभूतों में, उन भूतों के परिणाम-रूप घट-पटादि वस्तुओं में, गुणों की साम्यावस्था प्रकृति में, गुण-व्यतिकर महत्तत्व में सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों में, 'भगवन, अव्यय, ईश्वर परमात्मा, परब्रह्म' आदि वाचक-शब्द धारण कर, केवल अनुभवानंद-स्वरूपी, अविकल्पी, एवं अनिर्देश्य परमेश्वर अपनी त्रिगुणात्मिका दैवी-माया के प्रभाव से, अंतर्हित-ऐश्वर्य वाले बन कर, व्याप्य एवं व्यापक रूपों से दृश्य तथा द्रष्टा, भोग्य तथा भोक्ता बन, विकल्पी हो कर, विराजमान रहता है। इस कारण आसुरी भाव का परित्याग तथा समस्त भूतों के प्रति दया एवं मैत्री का प्रदर्शन करणीय हैं। दया तथा

मैत्री रखने से, अधोक्षज प्रसन्न हो जाते हैं। और आद्य एवं अनंत हरि के तुष्ट हो जाने पर, प्राणी के लिए अलभ्य वस्तु कुछ भी नहीं रह जायगी। जनार्दन-चरण-सरसीरुह-युगल-स्मरण-सुधारस-पान से बेसुध हो जाने पर, हमें धर्म, अर्थ एवं काम ही की नहीं, मोक्ष तक की आवश्यकता कहाँ रह जाती है? वर्गत्रयी, आत्मविद्या, तर्क, दण्डनीति और जीविका के विविधसाधन, यह सब त्रैगुण्य-विषय, वेदों के प्रतिपाद्य हैं। निस्त्रैगुण्य-रीति से, परम पुरुष श्रीहरि के चरणों में आत्मार्पण करना उत्तम है। परमात्म-तत्व का ज्ञानोदय हो जाने पर, मानव, अपने-पराये का भ्रम छोड़ कर, योगावधूतत्व तथा आत्म-विकल्प-भेद के कारण, सबको स्वप्नगत विषयों की भाँति तथ्य न मान कर, मिथ्या समझ लेता है।"

बोले फिर आगे प्रह्लाद सुधीवर उनसे,
"नारायण, नर–सखा, कभी श्रीनारद मुनि से
बोले थे, यह अमल सुदुर्लभ ज्ञान, दया कर।
हरिभक्तांघ्रि–पराग–पूत–तन वाले धी–वर,
परतत्वज्ञ, अकिंचन, ऐकांतिक सज्जन ही,
हृदयंगम कर पायेंगे इसको, हरि–जन ही!

"मैंने श्रवण किया था, द्रष्टा नारद मुनि से—
पुरा–समय, भागवत–धर्म यह, अविचल मन से!
शुद्ध, अमल, सविशेष, परम उत्तम, हे मित्रो!
कहता हूँ तुमको, तज कपट, प्रेम से, मित्रो!"

सुन यह प्रवचन, दंग रह गये दैत्यार्भक सब,
कह बैठे जिज्ञासा भर मन में, सब के सब।
"एक साथ ही रहे, श्रवण करते गुरुओं से,
शास्त्र अनेक, हम सभी मिल कर, शुक्र सुतों से।
रहा न कोई देशिक अन्य, राज-शाला में
त्र्यंबक तक आ जा न सकेगा, गुरु-शाला में!
फिर तुमको यह बातें, किस प्रगल्भ ने कह दीं?
किस प्रकार, कब, कहाँ? सुनाओ हमको शुभ-धी!

"करते हैं सेवा तुम्हारी, सदा समझ राजा तुम को।
करते हैं इज्ज़त तुम्हारी, समझ भक्त उत्तम तुमको।
समझ नहीं पाये हैं, किंतु, प्रकाश बुद्धि का, यह अनुपम-
क्योंकर लब्ध हुआ तुमको! प्रियवर बोलो, सुन लेंगे हम"

बोले हँस प्रह्लाद, परमभागवत-कुलालंकार तुरत,
पूर्वश्रुत वचन देवमुनि नारद के सुमिर, भक्ति पूरित।

"घोर तपस्या मंदिर गिरि पर, करते रहे, पिता मेरे
वर्षों तक, क्षांति का बने अवतार शुद्ध; उनको घेरे-
चारों ओर, रहीं चींटियाँ बना कर बाँबी, तो सुरगण,
मरा समझ, तातपाद को, पापी, निज पापों के कारण,
कर बैठे समराभियान राक्षस नगरी पर, दर्प दिखा-
कर आगे इंद्रको, शत्रु को अपना शौर्य अनल्प चखा!

"रण–बाजों की ध्वनि सुन घोर, देख तैयारी वह भारी,
रह भौंचक, खो साहस धैर्य, राक्षसों की सेना सारी,
छोड़ पुत्र–धन–पत्नी–मित्र, संपदा घर–बार सभी को,
भाग खड़ी हो गई, प्राण लेकर, बग-टुट दस दिशियों को!

"लूट मचा दी अमरों ने, राज निवासों में निर्दय हो,
साथ लिए, संपत्ति अनल्प गये वापस; तब भीतर हो
रनवास के, अमर पति ने, देख लिया, मेरी माता को,
धमका कर निश्शंक धर लिया, उस गर्भिणी पुनीता को।

"भय, शंका, लज्जावश करुण-रुदन करने वाली माँ को,
लिये जा रहा था तो, कुररी सम रोती उन मान्या को,
दैव योग से नारद जी दीख पड़े, उनको, मारग में,
बोले सुरपति से सकरुण हो, रोक तुरत सुर–मारग में।

" 'स्वर्भुवनाधिनाथ! सुरसत्तम! अमरों में पवित्रतम हो!
नीति विशारद हो! बलात् अबला को लिये जा रहे हो?
निर्दोषा, गर्भिणी, भयातुरमना, पवित्रा धन्या है,
छोड़ इन्हें, निज क्रोध धरो, दैत्येश्वर पर, यह मान्या है!'

"सुन कर, देव–तपस्वी की वाणी, हज़ार आँखों वाला
अधिपति बोला–'देव! महात्मन्! तेज लिए है, यह बाला
कालांतक दितिजाधिप का, गर्भाशय में अपने, सुन लें।
सर्वनाश ढा देगा बढ़ कर, अमरों पर हम, वह! गुन लें।

'इससे, प्रसव समय तक इनको, बंधन में निज रखूँगा।
जनने पर, शिशु को वज्रायुध से खण्ड-खण्ड कर दूँगा।
फिर हो कर निश्चित, अंततोगत्वा इन्हें छोड़ दूँगा।
दितिजराज पत्नी पर किंचित् भी आँच न आने दूँगा।'

"देवराज से देवर्षी बोले तब हँस कर—'अमरपते!
निर्भीकता-मूर्ति, भागवत-प्रशस्त, अजातशत्रु, सुमते!
जन्मांतर-संजनित-विष्णु-पद-सेवा-महिमान्वित, पावन
बालक, इनके गर्भाशय में संवर्द्धित है मनभावन!
शत सहस्र कुलिश भी तुम्हारे, इनका कुछ न बिगाडेंगे।
दैन्य, मरण या रण, इस पर कुछ भी प्रभाव ना डालेंगे!'

"श्रीनारद के वचन कान कर, देवाधिप, संतुष्ट हुआ
विष्णु भक्त होने के नाते, मन ही मन अति तुष्ट हुआ।
भक्ति भाव से, कर परिक्रमा माताजी की, छोड़ दिया
उनको नारदजी के साथ; अमरपुर का पथ ग्रहण किया।

"मुनिवर, पुत्री मान हमारी माता को, ले गये तुरत,
दुःखोपशमन किया, मृदुल वचनों से, वत्सल भाव भरित।
बोले—'शुभे! सती हो तुम उत्तम, गर्भस्थ बना है तव,
परम भागवतवर बालक! सफलता प्राप्त कर पति भी तव
लौट पड़ेंगे, तप की महिमा से बन दुर्जेय दुरासद।
तब तक रह लो मम आश्रम में निर्भय निश्शंक निरापद।'

"मान निदेश, तपोनिधि का, प्रतिप्राणा मेरी माता जी,
नारी रत्न, छोड़ सारा वैषम्य, अदोषा, बन राजी,
मन में रख, पत्यागमन की चाह, निर्भयशीला बन कर,
गर्भ-सुरक्षा का विचार कर निज, प्रयत्नशीला बन कर,
सेवा करती रही, देवमुनि की, उत्तम-शीला मन भर।

"करने वाली यों शुश्रूषा असुरराज पत्नी को, मुनि,
आश्रितजन-रक्षण में असम विशारद, नारद करुणा-खनि,
अभयदान दे कर, गर्भस्थ पिण्ड को मुझ, लक्ष्य बना कर,
धर्मसार निर्मल ज्ञान का, रहे करते, उपदेश, सुघर।

"माँ मेरी, नारी होने से, बहुत समय पहले का श्रुत
सदुपदेश वह भूली, वातावरण न पा कर योग्य उचित!
देवर्षी की अनुकंपा से, दैवयोगवश, मम मन से
सारा मत उन मुनिवर का, विस्मृत न हुआ, उस शुभ दिनसे।

"रख विश्वास सुनेंगे यदि, सच्चे मन से, इन बातों को
स्त्री–जन हों या बालक समझ सकेंगे, मुनि के सन्मत को।
देह–जनित–अभिमान अहंकार समूचा कट जायेगा।
'अपना' और 'पराये' का परदा, मन से, हट जायेगा।"

इस प्रकार नारदोक्त विधान से, प्रह्लाद, बालकों को, समझाता गया।—"जिस प्रकार ईश्वर-मूर्ति काल की प्रेरणा से, वृक्षों में फल लगते हैं, ठहरते हैं, बढ़ते हैं, पकते हैं और झड़ कर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार, जन्म,

अस्तित्व की अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश, ये छः भाव विकार शरीर ही में गोचर होते हैं, आत्मा तो इनसे सर्वथा मुक्त रहती है। वह तो नित्य, अक्षय, शुद्ध, क्षेत्रज्ञ, गगन आदि का आश्रय, निष्क्रिय, स्वयंप्रकाशी, सृष्टि का कारण, व्यापक, असंग, परिपूर्ण, एवं अद्वितीय है। ये बारह आत्मा के उत्तम लक्षण हैं, जो कि विवेक प्रदान करने में समर्थ हैं। यह विषय जान कर, देह आदि में मोह पैदा करने वाले अहंकार एवं ममकार त्याग, सोने की खानों के समीप प्राप्त होने वाली स्वर्ण-रज-युत शिलाओं को पुटपाक में गला कर, उनसे अमलिन स्वर्ण निकालने वाले चतुर स्वर्णकार की भाँति, कुशल प्राणी, आत्मा-कृत कार्यकारणों को समझ कर, इस देह में ही आत्मा को सिद्ध करने का उपाय कर के, ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। कपिल आदि प्राचीन आचार्यों का मत है कि, मूल प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, एवं पाँच तन्मात्राएँ—ये आठ प्रकृति हैं। सत्व, रज, तम उनके गुण हैं। प्रकृति के सोलह विकार हैं—पाँच कर्मेंद्रियाँ–वाक्पाणिपादपायूपस्थाएँ, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ–श्रवण नयन रसनात्वक् घ्राण, एक मन, और मही, सलिल, तेज, वायु तथा गगन, साक्षी रूप में, आत्मा, इन सत्ताईस तत्वों से युक्त रहती है। इन सब का समुच्चय ही देह है, जिसके दो प्रकार हैं—स्थावर तथा जंगम। मणिगणों में सूत्र की भाँति, मूल प्रकृति इत्यादि समुदाय से भिन्न रह कर भी, उन सबमें गुँथ कर, आत्मा प्रकाशित होती है। 'जन्म-स्थिति एवं लय आत्मा के गुण हैं', यह मूर्खतापूर्ण विचार छोड़ कर,

विवेक से शुद्ध बने मन से, देह में आत्मा का अन्वेषण करना चाहिए। आत्मा अवस्थाओं से युक्त-सी लगती है, किंतु वह है सब से एकदम पृथक्। जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन वृत्तियों का, जिसके द्वारा अनुभव होता है, वही सब से परे, सर्वसाक्षी आत्मा है। कुसुमों का धर्म परिमल से, जिस तरह उसके आश्रय पवन का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार मानव, बुद्धि के द्विगुणात्मक व कर्मजन्य भेदों से आत्मा का ज्ञान प्राप्त करे।

"यह संसार, कर्म-गुण-गण से बद्ध, स्वप्नवत् मिथ्या है,
कारण अज्ञान का, बुद्धि से साध्य, किंतु तथ्य नहीं है।
सभी अर्थ मन से होते उद्भूत; गुण रहित उस 'पर' को—
स्वप्न जागरण एक बराबर हैं; भवनाश-'परात्पर' को
छू तक पाते नहीं, यदपि उनके गुण से वे लगते हैं।
इस कारण मित्रो! कर्मों का कारण त्रिगुणात्मक जो हैं,
अज्ञान के झुण्ड को कर संदग्ध ज्ञान की ज्वाला में,
कर्म रहित बन, उन हरि को पाना शुभ, धरा विशाला में।

"इससे, गुरु सेवा, सर्वलाभ-अर्पण, संग सज्जनों का,
ईश्वर प्रतिमा-आराधन, हरिकथा निरति, नारायण का
नाम कर्म औ' गुणानुकीर्तन, वासुदेव में प्रीति सहज
मन में रख, ध्यान मगन रह लो, श्रीवैकुण्ठचरण सरसिज।

"विश्वंभर का मूर्तिविलोकन, पूजन आदि सुकर्मों में
विरति, तथा विज्ञान-लाभ-साधक भागवत सुधर्मों में

रख आसक्ति, समझ ईश्वर को सर्वभूत-हृदय-निवासी,
उस नाते सब का करके सम्मान, बनो प्रेम प्रकाशी !

"काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य गुणों को दूर हटा,
इंद्रियगण को कर मुट्ठी में, भक्ति करो, संकोच हटा।
इससे ईश्वर विष्णुदेव में प्रीति अमल सिद्ध करोगे।
क्रमशः केशव वासुदेव में, मुगति, अचल सिद्ध करोगे।

"असुरवैरि के अद्‌भुतवीर कर्म, लीला अवतारों के
सुगुण अनंत श्रवण कर, तथा, हर्ष पुलकाकुल तन हो के,
दृगजल मोचन कर, गद्‌गद् बन सच्चा भक्त रो उठेगा—
'नारायण! कमलाक्ष! वरद! वैकुंठ! प्रभो!' बोल उठेगा!
खिलखिल हँस देगा, गा लेगा, नाचेगा, नमन करेगा,
आक्रोश करेगा, प्यार जता, मन ही मन बात करेगा।
भूत चढ़ गया हो, सिर पर, ज्यों, मति-भ्रमण पा विचरेगा,
चिंतनरत औ' बंधमुक्त बन, सब अज्ञान जला लेगा।
बन, विह्वल, भक्ति में अंततोगत्वा हरि को पा लेगा!

"इस कारण से, विद्वान कहते हैं कि, राग द्वेष से युक्त मन वाले शरीरी के लिए, संसार चक्र से निवृत्त बनाने वाला हरि चिंतन ही, ब्रह्मनिर्वाण-सुख रूप बन जाता है। हरि-भजन, कोई दुर्गम विषय नहीं है। विष्णु तो समस्त प्राणियों के हृदयों में, अंतर्लीन बन कर, आकाश की तरह विराजमान है। विषय-वासनाओं में लिप्त रहने से, कुछ भी हाथ न लगेगा। पल भर में नष्ट होने वाले शरीरियों के लिए,

ममतास्पद और क्षणिक विभव—पुत्र, मित्र, कलत्र, पशु, भृत्य सेना, बांधव, राज्य, कोश, मणिमंदिर, मंत्री, मातंग, मही इत्यादि—निरर्थक हैं। यागादि पुण्य कर्मों से संपादित स्वर्ग-भोग, शाश्वत नहीं हैं, उन पुण्यों के समाप्त होते ही वे नष्ट हो जाते हैं। मानव, अपनी विद्वत्ता के गर्व में, कर्म करके विपरीत परिणाम प्राप्त कर लेता है। निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए। कामना के साथ करने पर दुःख मिल जाते हैं। शारीरिक सुख के लिए पुरुष भोगों की अपेक्षा करता है। किन्तु यह देह शाश्वत नहीं है। अपने साथ नहीं चलती। मृतक की देह कुत्तों एवं श्रृगालों का आहार बन जाती है। कर्माचरण द्वारा देही, कर्मों में बद्ध हो कर, फिर-फिर उन कर्मों के अनुरूप देह धारण करता रहता है। अज्ञान के कारण, पुरुष के कर्म-शरीरों का विस्तार बढ़ जाता है। धर्म, अर्थ तथा काम, अज्ञान के साधन हैं। मोक्ष तो ज्ञान द्वारा लभ्य है। मोक्ष-प्रदाता श्रीहरि, समस्त प्राणियों का आत्मेश्वर है। प्रियतम है! अपने ही द्वारा निर्मित महाभूतों में, जीव की संज्ञा लिये निवास करता है। सभी कामनाओं को काट कर, हृदंतर में विराजमान हरि का, भक्ति-भाव से सेवन करना चाहिए।

"सुर, नर, दानव, दैत्य भुजंगम, गंधर्वों में कोई भी,
लक्ष्मीनाथ-चरण-कमलों का ध्यान मात्र कर कोई भी,
धन्य बन सकेगा, आसानी से, हरि निज-जन-वल्लभ हैं।
व्रत से मिलते नहीं, सभी ऋतुओं को भी अति दुर्लभ हैं।

प्राप्त न होते शौच, शील से, युक्तिजाल से ना हिलते,
ज्यों भक्ति से हाथ लग जाते, और मार्ग से ना मिलते।

"भूदेवत्व न होता सक्षम, देवत्व भी न सक्षम है,
क्षमता रखती नहीं अतुल शांति भी और सब तो कम हैं
हरि को करने में प्रसन्न, अनुपम यत्नशील, सन्मित्रो !
यथा भक्ति रखती है शक्ति तथा, निश्चय यह मन्मित्रो !

"दनुज, दैत्य, मृग, भुजग, यक्ष, आभीर, सुंदरी, शूद्र, शबर,
नभचारी विहंग, कैसे भी पापी प्राणी हों सत्वर,
मुक्तिमार्ग को प्राप्त करेंगे, खेल-खेल ही में मन हर,
सकल विश्व को, विष्णु रूप सर्वात्मना समझ कर, भवहर !

"मार्ग बताते हैं गुरु, उनके वश में रहने के हम को,
मार्ग बताते नहीं दिव्य पदवी के हरि की, हा, हमको !
अँधियारी में कब तक दौड़ लगाओगे यों बालक तुम ?
लौटा लो आचार्यों को, सब ग्रंथ, बनो तम-घालक तुम।
आओ एकांत में, विशेष सभी बतलाऊँगा, तुमको।
जो न चाहते यह पथ, जाओ कर्मों में फँस, घन तम को !

"खेलेंगे मिल हरि के खेल, चलो गायेंगे प्रभु यश को–
मंगलमय निसिदिन ; संगति, दनुजों का, तज कर अपयश को
चलो, प्रेम से रहें निरंतर हिलमिल, दूध व पानी सम,
आनँदकंद मुकुंद देव के भक्तजनों संग, सीधे, हम !

"संसृति-पटल वित्त को तोड़ चलें, कामादि वैरिगण को,
हरि को चित्त दिये जावें, सब मिल कर आज, देह धन को।
निकलो, पा जावें निर्वाण-भूमि को उन्नत, शुभ होगा
हम सबका ! विश्वास रखो मुझमें, कुछ नहीं अशुभ होगा !"

यों पा कर एकांत, राक्षस कुमारों से जब तब, बोले—
अपवर्ग का मार्ग प्रह्लाद, हर्ष में उनके मन डोले।
गुरुशिक्षित उपदेश त्याग, वे नारायण-पद-भक्ति लिये—
रहने लगे ध्यान में भूले। तब गुरु सुत अति भीति लिये—
निज मन में; दौड़ पड़े शक्र-वैरि के सम्मुख घबड़ा कर,
बोले, हाथ जोड़ कर दोनों, उससे खूब गिड़गिड़ा कर।

"दानव वंशाग्रणी ! उपद्रव मचा दिया है, तव सुत ने !
असुर बालकों को पास बुला, ग़लत बताया है, इसने—
मेरी शिक्षापद्धतियों को ! और बनाया है सबको
मोक्ष मार्ग के पथिक ! अनर्थ हुआ है बड़ा, हाय, इसको—
तुरत लगाओ सही मार्ग पर, निज दक्षता प्रदर्शित कर,
विरत बना लो शत्रु-भजन से, डाँट बता कर, धर्षित कर !

" 'गुरु यह हमें कभी न बताता है, शुभ विष्णु कथाओं को !'
कहते यों मेरा आज्ञोल्लंघन कर, अपने पाठों को
पढ़ना नहीं चाहते हैं, राक्षस बालक, सुर-वैरि सुनें !
अपने साथ दूसरों को कर रहा भ्रष्ट, तव पुत्र, गुनें।

"मधुरिपु-जप तजता न, अलग, पागल-सा घूमा करता है,
उल्लास के साथ, मेरे वचनों को ना दुहराता है।
इस नटखट को सबक़ सिखाना, हमको सुलभ न लगता है।
विष्णु भक्ति से विरत बनाना, अतिशय दुर्लभ लगता है।

"राक्षस कुल में सुठि सुन्दर, बन कर कलंक, जन्म लिया है!
मूरख यह, पीतांबरधर को, सच्चे मन से, भजता है!
कैसे सुत को जनम दिया है, दानवकुल-वल्लभ तुमने ?
कैसी विडंबना! कैसा पागलपन अपनाया, तुमने ?"

सुत के कटु व्यापार, विरोधी, गुरुसुत के द्वारा वर्णित
कर्ण-रंध्र में पैठे खड्ग-प्रहारों से तो, बन घूर्णित—
क्रोधानल में, उछल पड़ा, चरणाघात-प्राप्त-सर्प-सदृश,
दावानल-सा पवन प्रचालित, दण्डाहत केसरी सदृश।

भीषण रौद्ररसाविष्ट-ज्वलित-अंतर, कंपित-गात्र लिये,
अरुणीकृत कर नेत्र-द्वय, पुत्र हनन का उद्योग लिये—
तुरत बुला अपने ढिग, गौरव, प्रेम भाव दूर हटा कर
बन निर्दयी, कठोर स्वरों में वज्रोपम, डाँट बता कर—

सुत को, गुरुतर शांत गुणान्वितमति को, शुद्ध ज्ञानरत को
अज्ञान-वन-कृशानुवितति को, कर-अंजलि-धृत-मस्तक को,
श्रीनारायण पदसरोज-युग-भजनामृतपान-निरत को,
धिक्कृत कर बोला सुरवैरी, उग्ररूप धर, सुव्रत को!

"डर खाता है, चमक दिखाते अपनी अधिक, गगन पथ में,
खर सहस्र किरणों वाला रवि, मम देश के वियत्पथ में !
डर जाता है, उच्छृंखल बन द्वेष भाव में बह चलते,
सदा पवन अननुकूल हो कर स्वेच्छावश हिलते-डुलते !

"डर खाता है, अपनी इच्छा के अनुसार ज्वलित होते,
मम-पौरुष-ज्वाला-मंदीकृत-वैश्वानर प्रजलित होते !
डर जाता है, धर्मराज यम जनता की जानें लेते,
उल्लंघन कर, मेरी आज्ञाओं का तीक्ष्ण, मरण देते !

"डरता है, इंद्र सर उठाते, मेरे सम्मुख भय तज कर,
डरते किन्नर-गंधर्व-यक्ष-विहंग-अमर-विद्याधः
नागावलि भय खा जाती है, मेरी छाया मात्र निहार !
तू क्यों डरता नहीं दुष्ट ? रे कौन यहाँ तेरा आधार ?

"प्रज्ञावान लोकपालक, मन में द्वेष भाव रख कर भी,
आज्ञोल्लंघन करते सकुचाते हैं, छल बल रख कर भी !
लख, मेरी टेढ़ी चितवन, रोष भाव प्रेरित, खो देते
तीनों लोक, विवेक ज्ञान निज, थरथर कंपित हो लेते !
फिर कैसे तू मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर बैठे ?
अहंकार में अंधा बन कर ! दुष्ट, ढिठाई कर बैठे !

"गला फाड़ चिल्लाता है तू, ज़ोर लगा कर अर्भक रे !
वैकुंठ का नाम लेता है, दुर्जेय उसे कह कर रे !

यदि वैकुंठ रहा है, वीर-व्रत-धारी, तब कहाँ गया ?
जब मैं दण्डित करता था अमरों को तब वह कहाँ गया ?
क्यों न कर सका साहस, मेरे सम्मुख हो कर लड़ने का—
घोर समर में, अविकुंठित बन, शक्ति दिखा कर बढ़ने का ?

"आचार्यों की सीख छुड़ा कर, बच्चों में भक्ति जगा कर,
चाह मोक्ष की पैदा कर, बकवास व्यर्थ का दरसा कर,
शत्रु विष्णु का गुण गा कर, वर आचारों पर फेर दिया—
पानी मेरे दैत्य वंश के; कुल को स्वच्छ मलीन किया !
ऐसे तुझ, कुल द्रोही, मूर्ख, नीच का वध ही उत्तम है !
मार तुझे निर्दोष करूँगा निज कुल, यही श्रेष्ठतम है।

"सब आशायें जीतीं मैंने ! तुझको किसकी आशा है ?
अरे दुरात्मन् ! इंद्रादि सभी आशाओं के पालक, हैं
आशा अन्य न देख, मुझी को आशा अपनी मान रहे।
करते हैं मम सेवा; क्यों न तुझे भी इसका ज्ञान रहे ?

"सभी जगों में श्रेष्ठ बली मैं, दल बल निज लेकर सारे,
जनक तथा वीर बन अप्रतिम, बलियों को अनुपम सारे
जीत लिया है, बल पौरुष दर्शा कर, विपुल प्रताप, अरे !
किसके बल, प्रतिवीर बना, तू मचल रहा है, मेरा, रे ?"

कहा पिता से तब सुत ने, धीरे नम्रभाव से हो नत—
"सबलों का अबलों का जो है बल, लोगों का श्रद्धानत,

वल आपका, और बल मेरा, ब्रह्मादि का रहा जो बल,
प्राणिमात्र का बल, वह प्रभु है, असुरेश्वर निर्बल का बल !

"दिशियाँ काल समेत नहीं रहतीं, फिर होती जिस दिशि में,
बन कर दिशा, दिशाओं की दश, दिशाहीन की इस जग में,
दिशा–प्राप्त लोगों की भी बन दिशा आप, जो रहता है,
तत्व वही 'पर' आशा मेरी बने महात्मन् ! रहता है !

"नाम, रूप, कालादि विशेष धरे, अलघु-गुणाश्रय-प्रभु ही,
सत्वेंद्रिय-बल-सहज-प्रभावात्मक बन, विनोदार्थ विभु ही–
सकल जगों की सृष्टि स्थिति लय के व्यापार चलाते हैं !
सब रूपों में, एकमात्र आप ही, लीन बन रहते हैं !

"कर लीजिये, चित्त को अपना ठीक, मार्ग से हट करके
चलने वाले चपल चित्त से, शत्रु कौन है, बढ़ करके ?
घोर शत्रु चित्त ही, उसे अपने वश में कर लें सत्वर,
मद-मत्सर युत भावों को आसुरी त्याग दीजिये अवर ।

"पूज्यपाद मेरे ! मेरी इन बातों को कर लें स्वीकार ।
लोग न कहते श्रेयस्कर बातें, तव सम्मुख, भय पा कर !

"अतल, वितल, भूतल, स्वर्गलोक आदि चतुर्दश लोकों को,
घटिका भर में जीता है अपने, चराचर जीवों को ।
किंतु, इंद्रियों के समूह चित्त का, नहीं कर पाये हैं
निग्रह ! वे आपको सहज ही मुट्ठी में कर पाये हैं ।

छेद सकें, इन भयकर अरियों को छः यदि, फिर देखेंगे
कोई नहीं रह गया शत्रु, सकल जग में, सुख पायेंगे !

"दानवपति ! काम लें कुशलता से, धी की रक्षा कर लें
कर्म बंधनों को फेंकें जड से उखाड़, मन में भर लें
समदर्शन, सम्यग्दर्शन, सांसारिकता से विरत बनें,
धर चित्त में चरण हरिके, वासुदेव नुति में निरत बनें"

बोल उठा तब, परमभागवतवर से, दोषाचरवर यों—
"पामर ! मरने को बन उद्यत, बकवास कर रहा है यों ?
तनिक मानता नहीं भीति, मेरी देह को छेदता है
कटु वचनों से, कानों के परदों को आह ! भेदता है !
कितना उच्छृंखल बन बैठा है, तू कुमति, अधम, वाचाल ?
मेरा प्रतिवाद कर रहा है ? आया है लो तेरा काल !

"मुझे छोड़, है नहीं जगत्पति, सभी प्राणियों का ईश्वर,
अगजग पर संपूर्ण प्रभाव लिए रहने वाला भास्वर !
अपने भ्राता के प्राणांतक नारायण को, बार कई,
ढूँढ़ थक गया जग में ! कहीं न पाया। मैं हूँ विश्वजयी !

"तब है कहाँ विष्णु तेरा वह ? किस रूप में विचरता है ?
किस राह में गमन करता है ? किस युक्ति से उधरता है ?
खंड-खंड कर दूँगा तुम दोनों के, उसका नौकर बन,
बढ़-बढ़ के प्रलाप करने लग गया आज तू, पामर बन !"

असुरेश्वर की धमकी सुन, हरिकिंकर ने शंका तज कर
पुलकांकुर-संकलित-मूर्ति बन, हर्षांबुधि में मज्जन कर,
तज कर क्रोध, हृदय में सुमिर विष्णु को मनसा नमन किया,
बाल सुलभ-वर्तन में नर्तन कर, देह भुला गान किया।

"है अंबुधि में! है मारुत में! है गगन में मेदिनी में!
है अग्नि में, दिशाओं में, दिन में, निशियों में, तपनों में!
है सुधाकरों में, ॐकार त्रिलिंगों में, त्रिमूर्तियों में!
पितृपाद! हैं, प्रभु हैं सचराचर में सभी मूर्तियों में!

" 'अमुक जगह है, अमुक स्थान में नहीं', छोड़िये शंका यह!
सर्वोपगत चक्रधर व्यापित है दानव वर! सभी जगह!
कहीं दूर अन्वेषण करने की आवश्यकता क्या है!
जहाँ कहीं खोजेंगे, हरि को देखेंगे, बाधा क्या है?"

इस प्रकार प्रह्लाद, घोषणा करते रहे, उच्च स्वर में
'प्रभु हैं सब आकृतियों में!' कह कर, विश्वास भरे स्वर में।
उधर दैत्य, तर्जित करने लग गया पुत्र को, चिल्ला कर,
'नहीं! विष्णु है कहीं नहीं अधमाधम!' कह कर झल्ला कर।
तब श्रीहरि, उद्दण्ड नृसिंहाकार, किये, धारण, बैठा।
सब जड-जंगम-वस्तु गर्भ में सर्वत्र लीन बन पैठा!

"दानवपति गरज उठा पागल हो गुस्से में—'रे डिंभक!
डींग रहा तू मार! रहे यदि सब में व्याप्त सरसिजांबक

हरि तेरा तो बता, दिखा पायेगा क्या तू इस क्षण में ?
इस स्तंभ में, यहाँ, तेरे 'हरि' 'गिरि' को मेरे प्रांगण में ?

"अगर दिखा न सका स्तंभ में, काट फेंकूँगा सर तेरा
खट से, कंदुक-सा पृथिवी पर, असम देखना बल मेरा।
तब क्या तेरा विष्णु, रोक पायेगा, मुझको, आ कर के ?
कर पायेगा तेरी रक्षा झट से, प्रीति जता कर के ?"

भक्त-वशंवद श्रीहरि के परम-भक्त, बोले, नत हो कर—
"चतुरानन से ले कर तृण तक, सब में, विश्वात्मक हो कर,
सम भाव से विराजमान नागर प्रगल्भ इस खंभे में,
नहीं रहेगा क्या ? असुरेश्वर क्यों हैं आप अचंभे में ?

"शंका तनिक न करें किसी तरह की ; अवश्य गुप्त हो कर,
खंभे में रह कर भी, यहाँ इसी समय में प्रगट हो कर,
दंभ त्याग कर, आँखों के सामने आज दर्शन देंगे।
भगत-वछल हैं प्रभु ! जन को बीच धार में न डुबो देंगे ! "

प्रलय-काल-घन-सम, गर्जन कर, उठा, उछल कर गद्दी से,
कालनाग-सा खड्ग निकाल, कोश से, कर में फुरती से
ले कर, बदल पैंतरे, धिक्कृत कर, परम भक्तमणि सुतको,
बोला, देख असुरपति—"रे डिंभक ! मूर्खचित्त ! श्रीपति को,
खंभे में इस दिखा, नहीं, रह जा मरने तैयार अभी ! "
मद में बन अंधा, प्रहार भीषण कर बैठा, देख सभी—

दिशियों में, आँखें कर लाल, महोदग्रप्रभाशुंभ तथा
जनदृग्भीषणदंभ हरिजनुस्संरंभ स्तंभ पर बहुधा !

इस प्रकार दानवेन्द्र ने परिगृह्यमाणवैर, वैरानुबंध जाज्वल्यमान रोषानल, रोषानल जंघन्यमान विज्ञानविनय, विनयगांभीर्य प्रकाशमान हृदय, हृदय चांचल्यमान तामस, तामस गुणचंक्रम्यमाणस्थैर्य युत बन, दुराग्रह में हुंकार भर कर, बच्चे को तिरस्कृत करके, यह कहते हुए कि, 'हरि को यहाँ दिखा दे !', कनकमणिमयकंकणक्रेंकार शब्द के साथ, दिग्दंतिदंतभेदन पाटवप्रशस्त, अपने हस्त से, सभामंडपस्तंभ पर प्रहार किये तो, दसों दिशायें अग्निस्फुलिंग उगलते हुए तड़क कर फट पड़ीं ! बंभज्यमान उस महास्तंभ से छूट कर प्रलय वेलासंभूत-सप्तस्कंध-बंधुर-समीरण-संघटित-जोधुष्यमान-महाबलाहक-वर्ग-निर्गत-निबिड़निष्ठुर-दुस्सह-निर्घातसंग-निर्घोष-संकाश, 'छटच्छट्' 'स्फटस्फट्' ध्वनिप्रमुख भयंकर शब्द पुंज, झनझनाते हुए उछल कर, आकाश कुहरांतराल को ढँक बैठे तो उन्हें न सह कर, दोदूयमान हृदय लिये, परवश बने, पितामह-महेन्द्र-वरुण-वायु-अग्नि प्रमुख चराचर प्राणि समूह समेत ब्रह्माण्डकटाह फट चला ! तब उस महास्तम्भ में से प्रफुल्ल पद्म युगलसंकाशभासुर, चक्रचाप हलकुलिश अंकुश जलचर रेखांकित चारुचरणतल शोभित, चरण चंक्रमण घन विनमित विश्वविश्वंभराभारधौरेय दिक्कुंभि कुंभीनस कुंभिनीधर कूर्मकुलशेखर दुग्ध-जलधिजात शुण्डालशुंडादण्ड-मण्डित प्रकाण्ड प्रचण्ड महोरुस्तंभयुगलालंकृत, घणघणाय-

मान मणिकिंकिणीगणमुखरितमेखलावलयवलयित पीतांबर शोभित कटिप्रदेश वाले, निर्जरनिम्नगावर्तवर्तुलकमलाकर गम्भीर नाभीविवर लिये, मुष्ठि परिमेय विनुतननुतर स्निग्धमध्यवाले, कुलाचल सानुभागसदृश कर्कश विशाल वक्षस्थल-संशोभित, दुर्जन दनुजभट धैर्य लतिकालवित्रायमान, रक्षोराज वक्षोभागविशंकट क्षेत्र विलेखन चंचुलांगलायमान, प्रतापज्वलन जाज्वल्यमान, शरणागतरक्षण-नयन-चकोर चंद्ररेखायमान, वज्रायुध प्रतिस्थानभासमान निशांत खरतरमुखनख वाले, शंख चक्र गदा कुंत तोमर प्रमुख नानायुध महित महोत्तुंगमहीधर शृंगसन्निभ वीररससागर वेलायमान, मालिकाविराजमान अनर्गलानेकशतभुजार्गलसहित, मंजुमंजीर मणिपुंजरंजितमंजुलहारकेयूरकंकण किरीटमकरकुंडलादिभूषणालंकृत, त्रिवलीयुतशिखरिशिखराभपरिणद्धबंधुरकंधरयुत, प्रकंपनकंपितपारिजातपादपपल्लव प्रतीकाशकोपावेश संचलित अधर लिए, शरत्कालमेघजालमध्यधगद्धगायमान तटिल्लतासमानदीप्यमान दंष्ट्रांकुर सहित, कल्पांतसनयसकलभुवन ग्रसन विलसन विजृंभमानसप्तजिह्वजिह्वातुलिततरलतरायमान विभ्राजमान जिह्वा ले कर, मेरुमंदरमहागुहांतराल-विस्तार-विपुलवक्त्रनासाविवर, नासिकाविवरनिस्सरन्निबिडनिश्वास-निकर-संघट्टन संशोभित संतप्यमान सप्तसागर, पूर्व-पर्वतविद्योतमानखद्योत मण्डलसदृक्षसमंचित लोचन लिये, लोचनांचल समुत्कीर्यमाण विलोल कीलाभील विस्फुलिंगवितानरोरुध्यमानतारक ग्रहमण्डल, शक्रचापसुरुचिरोग्रमहाभ्रूलताबंधबंधुर-

भयंकर वदन वाले, घनतरगण्डशैलतुल्य कमनीयगण्डस्थल, संध्यारागरक्तधाराधरमालिका प्रतिम महाभ्रंकषतंतन्यमान पटुतरसटासमूह लिये, सटासमूह संचालन संजात वातडोलायमान वैमानिक विमान, निष्कंपितशंखवर्णमहोर्ध्वकर्ण, मंथदण्डायमान मंदरवसुंधराधर परिभ्रमणवेग समुत्पद्यमान वियन्मण्डलमंडित सुधाराशिकल्लोलशीकराकारभासुरकेसरालंकृत, पर्वाखर्वशिशिरकिरणमयूखगौरतनूरुह, निजगर्जन निनादनिर्दलित कुमुद सुप्रतीकवामनैरावण सार्वभौम प्रमुखदिगिभराजकर्णकोटर एवं धवलधराधरदीर्घदुरवलोकनीय देह लिए, देहप्रभापटलनिर्मथ्यमान परिपंथियातुधान निकरगर्वांधकार, प्रह्लाद हिरण्यकश्यप रंजनभंजन-निमित्त अंतरंग बहिरंग जेगीयमान करुणावीररसावतार बने, महा प्रभाव वाले श्रीनृसिंह देव आविर्भूत हुए तो देख कर हिरण्यकश्यप—

"नर की मूर्ति नहीं केवल, हरि की भी मूर्ति नहीं, यह तो
नर की और केसरी की आकृतियाँ लिये रही; यह तो
निश्चय ही हरि की माया-विरचित आकृति है, तथ्य यही।
शिशु के इस प्रलाप को अर्गलरहित, दिखाने तथ्य सही,
सर्वगतत्व प्रतिष्ठित करने निज, मनमें संकल्प लिये,
प्रगट हुआ है यहाँ चक्रधर, नरसिंह का स्वरूप लिये।

"मुझे दण्ड देने आया है, हरि के हाथ मरण मेरा,
संभवतः हो जाये! फिर भी अपना शौर्य धैर्य सारा,
दिखला जग को, खूब लड़ूँगा, अरि के नाकों चने चबा
उसके प्राण हरण कर लूँगा, मुट्ठी में निज उसे दबा।"

कर विचार यों, प्रतिकार भावना भरे मन में, सरपट
गदा उठाये घबड़ाहट में बढ़ा हड़बड़ा कर बगटुट,
कंठीरव के निकट, अकुंठित, बढ़ता हो ज्यों मद-सिंधुर,
प्रभुनृसिंह के आगे, दौड़ पड़ा वह नक्तंचर कुंजर।

उनकी दिव्य प्रभाकिरणों से कंपित हो, दावानल के
निकट पहुँचने वाले खद्योत के समान, प्रभानल के
आगे उस कर्तव्यमूढ बन, भौंचक-सा निज तेज गँवा,
खड़ा रह गया, कनककशिप, अपना बुद्धिबल विवेक गँवा !

प्रलय समय के अवसान पर, सभी ब्रह्माण्डों को ढँक कर
रहने वाले घन तमिस्र को, जगत् सृष्टि के अवसर पर,
हो कर प्रगट, पान करके सात्विक तेज सिंधु बने हुये
प्रभुविष्णु के समक्ष, तमोगुणियों के कौशल, दृप्त हुये,
व्यर्थ बनेंगे ही अवश्य, शकलित हो, सुनिये राजोत्तम !
रह पायेंगे भला कभी, चमक लिये, अपनी, मंद अधम ?

तुरत सँभल, हो कर प्रकृतिस्थ, असुरकुल वल्लभ ने फेंका,
उद्दण्ड गदादण्ड प्रचण्ड भयंकर, नरहरि पर फेंका।
प्रभुने, दितिसुत को पकड़ लिया, दर्प दिखा कर, सर्पांतक
धर लेता हो सर्पराज को यथा, तथा बन कालांतक !

उछल छुड़ाया, अपने को, पकड़ से, क्रोध में बन पागल।
लगा शक्ति पूरी, उड़ान भर ली, ऊपर को, बन व्याकुल।

खगकुलराजचरणनिर्गलितभुजग ज्यों छूट, सोच मन में,
'मम बल देख, मनुजकंठीरव, कुंठित हुआ, एक क्षण में !'
नभ पथ में, बदल कर पैंतरे विहरण करते लीला से,
खड्गवर्म धर, अक्षीण-समर-दक्षता दिखा, हेला से,
भू-नभ-अंतराल में, वदन कराल लिए, घूमने लगा
बहु विचित्र लंघन परिभ्रमण भेद दिखा झूमने लगा !

देख अनर्गल विहरण, राक्षस का, निर्जर, तारक पथ में,
निबिडनीरधरनिकरों में छिप, झुण्ड बाँध, कंपित मन में,
पड़ चिंता में, निज जीवन की शंका की, देखने लगे,
रख हाथों में प्राण, दीन बन आपस में सोचने लगे !

सीस-ताज छूटे बाज के समान, वियत्पथ में चक्कर,
देख काटते अरि को, दीन सुरों को, गुस्से में भर कर,
पंचाननोद्भूत पावक-ज्वालायें 'धू धू धू' कर के,
भूमण्डल नभमंडल बीच भर गईं तो, सब को ढक के,
दंष्ट्राओं की धगद्धगित भयकर दीप्तियाँ, विलोक, प्रखर
असुरेश्वर के नेत्र, बन गये अंधे तो, चक्रित हो कर,
कंटक सदृश केसरों के उत्कट आघात ग्रहण करके,
नभ समूह, बन छिन्नभिन्न डोलने लगे तो, फट करके,
प्रलयघनों में चमचम करतीं चपला संनिभ, बन भास्वर,
खर-नख-किरणें छूट पड़ीं तो, दिशियों में, खरकर-भास्वर,
हिला सटा जाल, भ्रुकुटियाँ कुटिल तान, कडका कर दाढ़ें,
वज्रसमान भयद गर्जन कर, जिह्वा निज बाहर काढ़े,

लंघन कर, गुरु लाघव से, रभस प्रचण्ड दिखा, धर बैठे,
नरहरि-दितिसुतकरि को, प्राणांतक मुष्ठि में, पकड बैठे !

अपने भुजबल, माया, छल की परवाह न कर, अश्रम में
पकड़ लिया अपने को, नर केहरि ने तो, ज्यों अश्रम में
नागाधिप धर बैठे मूषक को लघु, राक्षस का धीरज
सूख चला, उड़ गये होश, रह गया आस जीवन की तज !

सुरपति-वैरि, वशंवद बना, महाराजन् ! नारसिंह का
परिभावित साधुभक्त-पटलांह का, महा-उग्र-रंह का,
अरुणारुण-करवाल-सदृश-खरतर-जिह्वा दीपित विभु का,
अरिसंहरण-रंह का, भक्तावनसंरंभ-व्रती, प्रभु का,

विहगेश्वर, साँप को, जिस तरह चीर-फाड़ता टुकड़ों में,
उसी महोग्रभाव में, नरहरि ने, कर फेंका टुकड़ों में,
ऊरु द्वय पर, रख, निज, नख-संघ-गडा, अचलोत्साही को,
प्रलयकाल दुस्सह-दंभोलि-समान-कठोर शरीरी को,
महाबाहु को, इन्द्रहुताशांतक-भयकर को, घनकर को
आंत्रमालिकायें बाहर कर, दिति-सुत-अन्वय-श्रीकर को !

फाड़ हृत्कमल देते हैं, शोणित बरसाते हैं भू पर !
नाड़ी मण्डल को, कर्कश, कतर डालते हैं ! भेदन कर,
वक्षःस्थल, अति विपुल, काटते, मांस सूक्ष्म खण्ड बना कर।
खल असुर का शरीर, कूट, बिखराते लघुपिण्ड बना कर !

आंत्रजाल को, कंठमालिकायें कर बैठे, दर्पित हो।
रक्त-सिक्त खर-नखरों से, जगमग हो उठे, अतर्पित हो !

छेदन कर देते हैं, जब, वक्षः-कवाट का, वज्रोपम,
वज्रादपि-कठोर घन-शात-कुठारों से लगते, अनुपम !
भेदन कर देते, जब गंभीर हृदय पंकज का, शतधा,
बने कुदाल और सब्बल, शोभा पा जाते हैं, बहुधा !
कर देते हैं जब कर्तन, धमनी वितान का, नर्तन कर,
अभी शाण पर चढ़े लवित्रों से लगते, अरि मर्दन कर !
तोड़ फेंकते हैं, जब जठर-विशालांत्र-जाल को, लगते
तीखे दीर्घ क्रकच[1] संघों से, छवि बिखेर जगमग उठते !
अंकस्थित राक्षस का वध—क्रोधोन्मत्त बने शस्त्रों से
अथवा अन्य साधनों से, ना कर के, किन्हीं अस्त्रों से—
कर देने वाले, नारसिंह प्रभु के, नखर विचित्र महा,
समर-मुखर हो रहे, जनाधिप, यह प्रसंग सुविचित्र अहा !

विस्फारितसुरमुख, परिविदलितदनुजनिवहपतितनुमुख बन,
गुरु रुचिजितशिखि-शिखा समूह बने, प्रणत भक्तजन सुख बन,
श्रीनरहरि-करनख-गण, शोभा अनुपम पा कर चमक उठे !
विनयानतजनगण के रक्षक, सखा बने, नृप ! दमक उठे !

इस प्रकार केवल पुरुष रूप, या केवल मृग रूप से भिन्न नरसिंह-रूप धर कर, न रात हो न दिन, ऐसे संध्या समय में, न भीतर हो न बाहर, ऐसे सभाभवन की देहली

---

१. आरा

पर, गगन अथवा भूमि से भिन्न, ऊरु भाग पर रख कर, प्राण सहित या प्राण रहित न कहे जा सकने वाले नखों से, त्रिलोक-जन-हृदयों के लिए भल्ल (भाला) स्वरूप, उस दैत्य-मल्ल का वध करके, महादहन-कीलाभील दर्शन, विकराल वदन, लेलिहान भीषण जिह्वा एवं शोणित पंकसिक्त केसर लिये, आँतड़ियों को हारों की तरह गले में धारण कर, गजकुंभ फोड़ कर चल पड़ने वाले पंचानन की भाँति, उस दनुज-गज का हृदय-कमल विदलन कर, सांध्यराग की रक्तिमारंजित-चंद्ररेखासदृश नखों से, श्रीनरहरि शोभित हो उठे तो, कई सहस्र राक्षस, अपने प्रभु के भयंकर वध के असह्य हो जाने पर, तरह-तरह के हथियार सम्हाले, विकट अट्टहास करते हुए, रण करने उनके सम्मुख दौड़ चले। भगवान ने नंदक, सुदर्शन चक्र आदि अवक्र साधनों से, उनमें से प्रत्येक का वध कर डाला! एक को भी जीवित नहीं छोड़ा। इस भाँति—

सब राक्षस वीरों का, कर, संहार, समर-संरंभ भगा,
प्रलयंकर दृष्टियाँ फेर, सबके मन में भयकंप जगा,
सभाभवन में, सिंहासन पर, नारसिंह, आसीन हुए,
वदन बनाये, अतिविशाल विकराल, रोष अक्षीण लिये!

सीधे देख न पाये, हरि को सम्मुख हो कर निर्जरगण,
धँस विभ्रम में, भयकंपित बन, छिप बैठे सिद्धोरग गण!
चारण, यक्ष, गरुड, विद्याधर कोई भी उस अवसर पर,
फटक न सके निकट नरहरि के, रहे, काँपते सब, थर-थर!

तर्ष[1] लिये अक्षय, हर्ष में विभोर बनी सुर-कामिनियाँ
नरसिंह का देख उत्कर्ष महान्, मगन मन गुण-खनियाँ
वर्षा करने लगीं निरंतर, नंदनवन-नव-सुमन लिये
दोनों हाथों में, खूब मना, उत्सव, अमितोत्साह लिये !

यही नहीं, नभ में उस अवसर पर देवता-विमान डुले,
गायन गंधर्वों के, नर्तन अप्सरियों के, भव्य, खुले।
काहल, भेरी, मुरज, पटह इत्यादि वाद्य बहु मुखर हुए,
कुमुद, सुनंदादि पार्श्वचर हरि के, झट जा कर प्रगट हुए !

ब्रह्म, महेश्वर, शचीनाथ को आगे रख कर, त्रिदश सभी,
किन्नर, किंपुरुष, गरुड, पन्नग, सिद्ध, साध्य, गंधर्व सभी
चारण, विद्याधर, मनु, मुनिजन और प्रजापति, दर्शन को
नरकंठीरव के पाने की, उत्कंठा ले, उनमन हो
गये वहाँ ! कर-कमल-युगल धर माथे, निकट न जा कर के,
लगे भजन करने नरभोजन-गज-हरि का, नतशिर कर के,
बहु संसरणसिंधु-तारक, खरनखरयुक्त नर-केसरि का।
सब से पहले, कमलासन ने, स्तवन किया यों, श्रीहरि का।

"घन लीला गुण की चतुराई से, भुवनों को पैदा कर,
संरक्षण कर, भक्षणकर, अंत में सभी खुद ही बन कर
रहने वाली उस दुर्दांत शक्ति को, नमन करूँगा मैं !
उस अनंत-ज्योति के, अव्ययात्मक के चरण गहूँगा मैं !

१. प्यास

नित्य पवित्र कर्म वाले, सुविचित्र वीर्य वाले प्रभु को,
नमस्कार करता हूँ, कृपा-प्रसाद चाह कर, श्री विभु को !"

कहा रुद्र ने—"अमरवरेण्य ! सहस्र युगों की समाप्ति पर
क्रोध दिखाने का प्रभु के अवसर आता है, नहीं मगर
उसके पूर्व। अमरघातक रजनीचर का वध कर बैठे
भयद समर में। बस कर दो ! हम सभी हर्ष सर में पैठे !
आत्मज यह उसका, पवित्र, अतिविमल-चरित्र, भक्तवर है,
नतजन वत्सल कर दो इसकी रक्षा, श्रेष्ठ संतवर है !"

बोला इंद्र—"घोर-दैत्यानीक-हृदय-भयद-रंह ! अघहा !
करने दो सेवा, तव भक्ति अनंत दिखा हमको, अरिहा !
प्राणि समूहों के हृत्कमल मध्य बसने वाले स्वामिन्,
हृदयंगम तुम ही कर पाओगे, अब तक, अंतर्यामिन्
हम पर जो बीती थी, राक्षस की ओर से ! विपन्नों की
रक्षा कर बैठे, दितिसुत का वध कर, सभी प्रपन्नों की !
हव्य, मखों के, फिर से प्राप्त हुए, हमको, हे करुणालय !
बजा पा रहे हैं, बाँसुरी, चैन की, करुणावरुणालय !

"चख बैठे हों, स्वाद तुम्हारी सेवा का, जो संत सुजन,
चाह नहीं रखते कैवल्य विभव का भी, वे पूत सुमन।
अन्य सुखों की लौकिक, फिर बात ही कहें क्या? होते हैं
जो अस्थिर बुद्बुद सम जल के, दुःख विपत के सोते, हैं !"

तदनंतर ऋषिगण बोला—"अपने उदर में विलीन बने
लोकों के सर्जन, संरक्षण में, प्रभु, थे, तल्लीन बने।
ऐसे समय, भेद उनको, असुरेश्वर कुंचित कर बैठा,
सहज विकास विवर्द्धन से, लोकों को, वंचित कर बैठा।

"दुर्विनीत उस अत्याचारी का, नरसिंह रूप धर कर
कर संहार, निगम प्रतिपादित वचनों को सत्य बना कर,
फिर से, सबका, कर बैठे, उद्धार, दीनता तुरत भगा,
कर के, अनुसंधान धर्म का, नवजीवन की लहर जगा!"

स्तवन किया कर जोड़ पितृ देवों ने—"आत्मेश्वर, स्वामिन्!
सतिलोदक पिण्ड प्रदान, भोग्य हमारे, जिनको, भूमन्!
अर्पित करते थे श्राद्धों में, पुत्र हमारे, प्रीति सहित,
कर वंचित, हम को उनसे, उद्दण्ड दैत्य यह नीति रहित,
करके क्रोध प्रचण्ड, उड़ा ले जाता था, उद्धत बन कर!
दण्डित हुआ आज वह यहाँ, नखों से तव खंडित बन कर!"

बोले सिद्ध—"क्रुद्ध बन, अणिमादिक सिद्धियाँ छीन ली थीं,
दर्पोद्धत दितिसुत ने, सभी हमारी निधियाँ ले ली थीं!
वर योद्धा बन, तुमने वध कर, इस अधमाधम का, फिर से
लौटा दी सिद्धियाँ नृसिंह, हमें, ढाल दया अंतर से!"

विद्याधर विनती कर बैठे—"लौटा दीं, सब विद्यायें
अंतर्द्धानादि हमें, वध कर, दानव का, हर विपदायें।

अपरंपार-दया-मंडित है, तव चरित्र यह, जन-वत्सल !
तव निरुपम वैभव, विचित्र है, सत्य नृसिंह प्रणतवत्सल !"

कर दण्डवत, भुजंग स्तवन कर उठे—"जी उठे हैं
हम सब ! तुमने फाड़ दिया, उर इस राक्षस का, जगदीश्वर !
जिसने छीन लिये, रत्न और कांतारत्न, हमारे सब,
फिर से प्राप्त हुए, पत्नियाँ तथा रत्नगण हमारे सब !"

बोले मनु—"दुर्नीत दैत्य का, कर संहार, वर्ण-आश्रम-
धर्मों का सेतु पूर्ण कर डाला तुमने, देव, बिना श्रम !
किन शब्दों में कर पायेंगे, वर्णन शुभ लीलाओं का ?
सेवक ठहरे हैं हम, आखिर, तव निगूढ लीलाओं का !"

कहा प्रजापतिगण ने—"पैदा किया, हमें प्रजनन करने
प्रभु तुमने। पर अब तक, मान दैत्य की आज्ञायें, हमने
छोड़ा है निज कर्म, मानसिक भार रहे ढोते, अरिभय।
चीर-फाड़ वक्षः स्थल, मारा इस कुजन को; अतः निर्भय
बन सर्वत्र सदा, सृष्टि कार्य किया करेंगे, इस क्षण से,
जगती का मंगल करने अवतीर्ण नृहरि ! सच्चे मन से !"

गान कर उठे हैं, गंधर्व—"रात दिन, करते रहते हैं,
नाच गान, निसिचर के आगे, व्यथा झेलते रहते हैं !
दया दिखाता न था तनिक। जम से जा मिला, आज मर कर,
प्रभु के हाथ ! पातकी का अति, कुशल भला होगा क्योंकर ?"

चारण बोले, तदनंतर—"ईश्वर! तुम्हारे हाथ कटा,
सुरवल्लभ का शत्रु आज ! त्रिभुवन जन मन का शूल हटा !
सांसारिकता के समस्त रोगों की औषधि, तव पावन
चरण-युगल की शीतल छाया में, जी लेंगे, मन भावन !"

यक्षों ने, तब, की गुहार—"भ्रंश-रहित भंग-विमुक्तों पर,
चढ़ निश्शंक विहार किया करता, हम पर, तव दासों पर,
यह दुर्वृत्त दिशाओं में ! इसकी जड काटी है, तुमने।
विपता मिटी ! त्रिविष्टप-मुख्य-जगन्निवास ! देखा हमने,
जीवन में सुख शांति आज, समयानंतर सुदीर्घ, स्वामिन् !
प्रभो ! चतुर्विंशतितत्वनियामक! सब के अंतर्यामिन् !"

बोले, फिर किंपुरुष–"किंपूरुष हैं, हम नरहरि पुरुषोत्तम !
महा अकिंचन, कैसे कर पायेंगे, संकीर्तन तव, हम ?
मारा दुष्पुरुष को, सकल सुजन हृत्परुष को, आज यहाँ !
नवजीवन पा गये, चौदहों भुवन ! सधे सब काज यहाँ !"

वैतालिक, स्त्रोत्र पाठ करने लगे—"त्रिभुवनों का वैरी,
गिरा आज ! जगदीश्वर ! तव शुभ गीत गान करते नृहरी !
सभा सभाजों में, मखशालाओं में, यज्ञमंडपों में,
निर्भय विचरण कर लेंगे, हम, वीथी तथा विटंकों[1] में !"

किन्नर बोले—"तज धर्माधर्म का विचार, देव, हमसे
लघुतर कर्म करा लेता था, पापात्मा यह, गुरुडम से।

---

१. गवाक्ष

ऐसे दुष्कर्मा का वध कर, उपकार किया नाथ, प्रभो !
उन्नत शर्म[1] किये, तव भक्ति करेंगे, अग-जग-नाथ विभो !"

पीछे, विष्णुदेव के सेवक बोले, भक्ति नमित हो कर,—
"ब्राह्मण के शाप से, पूर्व जन्मार्जित, कटु निशिचर हो कर
बना आततायी यह, इसका वध करना, अपकार नहीं,
उलटे कर दी कृपा अमित, प्रभु ने ! यह क्या उपकार नहीं ?
भक्ति सहित सेवा करने से, तुमको शीघ्र पा सकेंगे,
वैर भाव से भी प्रभु, तव सन्निकट तुरंत जा सकेंगे !
यह नरहरि तनु, अद्भुत अश्रुतपूर्व, भव्य है, तुम्हारा !
संकट से, पा गये मुक्ति, सब, दिव्य रूप लख, तुम्हारा !"

इस प्रकार, चतुरानन, रुद्र, अमर पति को आगे करके,
सभी देवता-प्रमुख अनेक विधानों से विनती करके,
रोषोत्साह-विजृंभित नरहरि के समीप, फटक न पाये ।
फिर लक्ष्मी देवी को बुला, जोड़ कर, यों बोले–"माये !

"श्री हरि की पटरानी हो, हरि सेवा कलाचतुरमति हो,
हरि ही को गति मान सदा रहती, हरि में करके रति, हो
हरिवरमध्ये ! आगे बढ़ नरहरि का रोष शांत कर दो ।
तुम ही एक मात्र गति हो माँ, सबमें जीवन तति भरदो !"

मान प्रार्थना, अमर गणों की, अति उत्कंठित हो मन में,
कलकंठी वह, नरकंठीरव के उपकंठ[2] गई, क्षण में ।

१. मुख २. समीप

देख, ठगी-सी रही, धुकधुकी लिए सोचती मन ही मन—
'देखी सुनी न मैंने अब तक, प्रभु-आकृति यह जन-भीषण !
रविबिंब है प्रलय का, मुख तो, पूर्णचंद्रसम सौम्य नहीं !
शिखि-ज्वाला समूह है चितवन, वर प्रसाद-गुण-पूर्ण नहीं !
वीराद्भुत-रौद्र-पूर्ण मन है, भूरि कृपारस पूर्ण नहीं !
छूट रहीं, भयकर दंष्ट्रा-छवियाँ, अंबुज-दरहास नहीं !

'प्रखर नखों से उद्भासित, नर-सिंह-मूर्ति, प्रलयंकर है !
रमणीजन वल्लभ मूर्ति नहीं यह, जो होता श्रीकर है !
अश्रुतपूर्व, अदृष्टपूर्व है ! मैंने प्रभु के श्रीमुख से,
सुनी कभी पहले, इसकी चर्चा तक, नहीं, विष्णुमुख से !'

बातें करने का कौतुक ले बढ़ती, पीछे मुड़ जाती !
'उत्तर देंगे नहीं रोष में !' समझ, खड़ी ही रह जाती।
चंद्रमुखी, भर प्रीति भीति मन में, पति के ढिग जा न सकी,
दुविधा में पड़, रहीं जहाँ की तहाँ खड़ी, कुछ कर न सकी !

सोचा तब वारिज-वासिनी रमा ने शंकाकुल हो कर,
'प्रभु के निकट चलूँगी, हो जाने पर शांत, रोष खो कर।'
समझ गये तब चतुरानन, प्रह्लाद भक्तवर को तज कर,
हरि को शांत न कर पायेगा कोई अन्य, भीति तज कर।'

सो बोले, उसको प्रेम में बुला कर पास—"तात ! सुन लो,
उग्र रूप, पितृमुक्तिहेतु, धर, तुम्हारे, नरहरि गुन लो,

रोषानल की आँच, तनिक भी छोड़ न पाये हैं, अब तक,
किसी तरह शांत बना लेना, कृपया वत्स ! इन्हें भरसक !"

महाभागवत, संतशिरोमणि, वर बालक ने 'हाँ' कर दी,
हस्तांबुज मुकुलित कर दोनों, निज माथे पर धर, वर-धी,
मंदमंद चल, विनय-विवेक अमंद लिये, नरहरि सम्मुख,
किया दण्डवत, आठों अंग छुला धरती से, पा अति सुख ।

भक्त-वशंवद ईश्वर ने देखा, करुणार्द्र लोचनों से !
अपरंपार प्यार बरसा कर, निकट बुलाया नज़रों से ।
स्निग्ध विलोकन डाल, प्रभूत जगन्नुत, असुरांतक ने फिर,
बालक के, नतमस्तक पर, फेरा हौले–हौले धर कर
अपना हस्त, समस्त मंगलप्रद, गुरुशस्त प्रशस्त महा,
कालसर्पत्रासापनयकलाशस्त, श्री-कुचोपास्त, अहा !

इस प्रकार, पा हरि कर-स्पर्श, बना प्रह्लाद भीति विरहित,
पुलकित देही, समुत्पन्न - आनंद - वाष्प - जलधार - सहित,
ब्रह्मज्ञान-सहित, नम्रताविवेक भूषणान्वित, सुव्रत,
भक्ति वशंवद, गद्‌गद् प्रेमातिरेक में बन, समलंकृत
देवदेव के चरण सरोरुह, हृदय सरोवर में रख, निज,
करने लगा, स्तवन नरहरि का, मुकुलित करके, कर-सरसिज!

"सिद्धामरसंयमीश चतुरानन आदि, कहा जाता है,
सतात्पर्य मन से, बहु भाँति, नित्यप्रति, समझा जाता है,

सोच समग्र रीति से, स्तवन न कर पाते हैं, तव, सम्यक् !
तब, मैं, राक्षस-पुत्र, गर्व मद में अंधा, छोटा बालक,
कैसे कर पाऊँगा, वर्णन, भला, तुम्हारा, जड मूरख ?

"जप, तप, अमल वंश, तेज सुघर, श्रुत, सौन्दर्य, सकल उद्योग,
पौरुष, निष्ठा, बल, प्रताप, प्रज्ञा, चातुरी व अविकल योग,
ईश्वर ! संतुष्ट बनाने में, पर्याप्त न होते, तुम को,
दंति-यूथ सम, सतात्पर्य-भक्ति ज़रूरी है, सज्जन को !

"निर्मल ज्ञान, सुदान, धर्मरति, सत्य, क्षांति, निर्मत्सरता,
तप, अद्वेष, मखादि कर्म कर, मन में भरे दर्प जडता,
अकड़ दिखाने वाले धात्रीसुर से, श्वपच श्रेष्ठतर है,
यदि वह अर्थ, मनोवाक्-प्राण व कर्म सभी अर्पित कर, है
कर लेता तुम को प्रसन्न ! तब होता निजकुल श्रीकर है !

"अज्ञपुरुष का पूजन, करते स्वीकार नहीं, जगदीश्वर,
करुणावश ही, भोले भक्तों के हित-कारण करुणेश्वर,
करते हैं, स्वीकार उन्हें ! सर्वशक्तिधर, उनको किंचित्
आवश्यकता रहती नहीं, बाह्य-पूजन की, यत्किंचित् ।
परिपूर्ण हैं, आप वे अपने ही में। अतः ईश्वरार्पण
भाव लिए, पूजन करना है, परम धर्म, सर्व-समर्पण ।

"जैसे मुख-सौन्दर्य, मुकुर गत प्रतिबिंब को बनाता
सुन्दर, वैसे ही, जो अर्चा-पूजन किंकर करता ;

वह ईश्वर का ही हो कर के, उन्हीं को मिल जाता है।
इसीलिए, तीव्र मनीषा से, करनी भक्ति ज़रूरी है।
छोड़ भक्ति, अर्थों को अन्य, मान, हरि, कभी न देते हैं।
भक्तजनों के पारिजात, अपनों को त्याग न देते हैं !

"अतः क्षुद्र हो कर भी, अपनी बुद्धि लगा कर, सीमित, मैं,
तज भय शंका, तव वर्णन करता हूँ, महा अल्पमति मैं।
उससे पुरुष प्राप्त हो जायेगा, सर्वोच्च मुक्तिपद को,
हे अनंत ! कर पराभूत, गहन अविद्या को, दुर्मद खो !

"सत्वगुणाश्रय प्रभु ! सर्वेश्वर ! तव आज्ञाकारी सेवक,
त्रास विकंपित हैं विलोक, यह भीषण रूप, कलुष-पावक,
चतुरानन इंद्रादि अमरगण आज यहाँ ! क्रोध भुला कर
सौम्य रूप धारण कर लो ! होते हैं कल्याण गुणाकर
सुरुचिर रूप अनंत तुम्हारे, भय को नहीं जगाते हैं !
सुजनों का मंगल करने में ही, वे, हाथ बँटाते हैं !

"जग को त्रस्त बनाने वाले सर्प वृश्चिकों सा जो था,
उस असुर का अंत कर डाला, जगती का कंटक जो था !
सब ने ली, गुरु साँस हर्ष की, सज्जन-मानस-कमल खिले !
सिद्ध हुआ, अवतार प्रयोजन प्रभु ! अब तो मुखकमल खिले !
तज लो रोषानल, विमलात्मक ! आनँद सिंधु, कलुषहारी !
तुम को जान सदा चिंतन करते हैं संत, श्रुतिविहारी !

"खर दंष्ट्राओं, भृकुटी कुटिल, सटाजालों, तीव्र नखों से,
भयकर गर्जन, रक्तकेसरों, दीर्घतरांत्रमालिका से,
नेत्र-द्वय से, अग्नि उगलने वाले, संशोभित, दुर्भर
दुर्निरीक्ष्य, तव नरसिंहाकृति से, मैं, डरता नहीं, मगर
क्रूर अपार पूर्ण भव-दावानल से बेहद डरता हूँ !
शरण प्रदान करो चरणों में, देवदेव ! नति करता हूँ !

"प्रभो ! सभी योनियों में प्रवेश कर, सुख-वियोग और दुःख-संयोग से प्राप्त शोकानल में दग्ध बन कर, दुःख निवारण न करने वाले देह गेह आदि के अभिमान-वश मोहित बन, चक्कर में पड़ा हुआ मैं, अपने लिए प्रियतम, सखा और परदेवता स्वरूप तुम्हारे ब्रह्मगीत रूप लीलावतारों की विशेषताओं को पढ़ता हुआ, रागादि से मुक्त बन, दुःख समूह को पार कर, भवदीय चरणकमल स्मरण एवं सेवा में चतुर भक्तों के साथ मिल कर रहूँगा। बच्चे को उसके माँ बाप, रोगी को वैद्य की औषधि, और समुद्र में डूबने वाले को नौका ही बचा सकते हैं। अन्य नहीं। इसी भाँति, सांसारिक ज्वाला में झुलस कर, तुम्हारे द्वारा उपेक्षित मनुष्य का उद्धार, तुमको छोड़ दूसरा कोई नहीं कर सकेगा। इस संसार में कौन व्यक्ति, कौन-सा काम, किसकी प्रेरणा से, किन-किन इंद्रियों द्वारा, किस प्रयोजन से, किस के लिए, किस स्थान पर, किस समय, किन रूपों एवं गुणों में, जनक आदि भाव से—जो कि अपर है—ब्रह्म आदि भाव से—जो कि श्रेष्ठ है—रूपांतरित करता है, वे सब और वह सब,

तुम्हारे ही स्वरूप हैं ! तुम नित्यमुक्त हो, सब के रक्षक हो ! फिर तुम्हारे अंश रूप पुरुष में, तुम्हारी कृपा से, काल द्वारा प्रेरित हो कर, कर्ममय बल- सहित और प्रधान लिंग स्वरूप मन को, तुम्हारी माया उत्पन्न करती है। यही, अविद्या के द्वारा कल्पित मन, दस इंद्रियाँ पाँच तन्मात्रायें, इन सोलह विकार-रूप अरों से युक्त और छंदोयम-कर्म-प्रधान संसार-चक्र है। तुमसे भिन्न रह कर, कौन ऐसा प्राणी है, जो कि इस मन रूपी संसार चक्र को पार कर सकेगा ? अपनी चैतन्य शक्ति से, तुम, बुद्धि की शक्तियों को जीत लेते हो। तुम्हारे द्वारा वश में किया गया काल, जिसमें संपूर्ण साध्य और साधन रहते हैं, माया से युक्त बन कर, सोलह विकार वाले इस संसार चक्र का निर्माण करता रहता है। यह चक्र मुझे गन्ने की तरह पेर रहा है ! दावा की लपटें जैसी इसकी ज्वालाओं से, मेरी रक्षा करो स्वामिन् ! —

"संसारी लोग, चाहते हैं, दिक्पालों के भव्य विभव,
आयु, संपदा, ऐश्वर्य आदि, समझ उन्हें शाश्वत अभिनव !
देखे हैं, मैंने वह सभी स्वर्ग-वैभव, जो मिटते थे,
रोष-हास-जृंभित, विकट-भ्रुकुटि की महिमा से लुटते थे,
मेरे पिता हिरण्यकशिप की ! वैसा वीर गिरा क्षण में,
प्रभु के हाथ ! इसलिए ना हो सकते, ध्रुव मिटते क्षण में!

"ब्रह्मा इन्द्र आदि के खुद के जीवन विभव अशाश्वत हैं !
काल रूप आप उरुक्रम के द्वारा वे भक्षित क्षत हैं !

अधिक क्या कहूँ नाथ ? मुझे अन्यों की कुछ भी चाह नहीं !
ज्ञान मिला, तव किंचित्, सेवा करूँ, दूसरी राह नहीं ।

"मृगतृष्णा सम विषय वासनाओं को, तथ्य समझ, मानव,
सब रोगों का उद्गम, नश्वर तन से विरत न हो, नव-नव
कामानल की ज्वालाओं में, चण्ड, सदा जलता रहता !
अवर सुखाघातों का उन, कथमपि पार नहीं पा सकता !

"श्रीमहिला, शंकर, सरसीरुहसंभव को भी, स्नेहधिया,
अपने महोद्दाम कर से, अभयदान, प्रभु ने, नहीं दिया ।
ऐसे तुम ईश्वर, तामस-वंशज उग्र रजोगुणी दितिज,
मुझ बालक के मस्तक पर, निज हस्तकमल धर बैठे अज !
अनुकंपा पारावार का अपार, पार, भवदीय, कहाँ ?
कैसा अचरज है ? जानूँगा यह रहस्य मैं देव ! कहाँ ?

"हे महात्मन् ! चतुरानन जैसे संतजनों को, और हम जैसे असंत जनों को भी, उनकी सेवाओं के अनुरूप, पक्ष-विपक्ष का विचार त्याग कर, कल्पवृक्ष की भाँति, कामनाओं को बरसाया करते हो ! कंदर्प-सर्प-संयुत-संसार कूप में गिरने वाले, मूर्ख जनों के साथ हो कर मैं भी उसमें गिर रहा था, तो भवदीय भृत्य श्री नारद जी की कृपा से, तुम्हारे अनुग्रह का पात्र बन गया हूँ । मेरी रक्षा कर के, मेरे पिता का वध करना, मेरे प्रति पक्षपात के कारण नहीं हुआ है । दुष्टों का संहार और शिष्ट जन, निज भृत्य एवं मुनिगणों

का संरक्षण, तुम्हारे सहज गुण हैं। यह समूचा विश्व तुम ही हो। गुणात्मक विश्व का सृजन कर, उसमें प्रविष्ट हो कर, हेतुभूत गुणों को लिए रह कर, संरक्षक, संहारक आदि अनेक रूपों में तुम ही विराजमान हो। सत् एवं असत् कारण-कार्यों का समुच्चय, इस विश्व का, परम प्रधान कारण तुम्हीं हो। तुम्हारी माया के प्रभाव से ही, 'अपने' पराये' का बुद्धि- विकल्प उत्पन्न होता है। परंतु तुमसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार, बीज में वस्तुमात्र-भूत-सूक्ष्मता और वृक्ष में नीलत्वादि वर्ण होते हैं, उसी प्रकार, तुम्हीं में विश्व के जन्म-स्थिति-प्रकाश तथा नाश आदि उद्भूत होते हैं। अपने द्वारा उत्पन्न विश्व को, अपने में रख कर, प्राचीन काल में, जल प्रलय के पारावार में, पन्नगेंद्र की शय्या पर, निष्क्रिय बन, आत्मसुखानुभव करते हुए, निद्रामग्न की भाँति, योग-निमीलित नेत्र लिये रह कर, कुछ समय के पश्चात्, निज काल-शक्ति द्वारा प्रेरित हो, प्रकृति-गत धर्म, सत्व रज आदि गुणों को स्वीकार कर, समाधि तोड़ कर विराजमान होने वाले, तुम्हारे नाभि प्रदेश में से, वट-बीज से निकलने वाले वट-वृक्ष की भाँति, एक कमल उत्पन्न हुआ था। उस कमल में से, चार मुख वाले ब्रह्मा पैदा हो कर, कमल के सिवा और कुछ भी न देख, अपने में बीज रूप में फैले तुम को न जान पाये। तुम को, अपने से अलग बाहर समझ कर, जल के भीतर घुस, सौ दिव्य वर्षों तक ढूँढ़ते रहे। फिर भी, अपने जन्म के लिए उपादान कारण तुम्हें देख न पाये, और हार कर फिर से कमल पर जा बैठे। तब उन्हें बड़ा आश्चर्य

हुआ। निदान बहुत समय तक तीव्र तपस्या करके, पृथ्वी में व्याप्त उसकी सूक्ष्म तन्मात्रा गंध की भाँति, तपस्या से शुद्ध बने अपने ही अंतःकरण में, नाना-सहस्र वदन-शिरो नयन-नासा-कर्णवक्त्रभुजकरचरण तथा अनेक आभरण लिये, मायाकलित, महालक्षणालंकृत, एवं निजप्रकाश-दूरीकृततम-वाले, तुम पुरषोत्तम का भव्य साक्षात्कार कर लिया था ! उस अवसर पर तुमने—

"घोटक-मुख धारण करके, मधु कैटभ का वध कर डाला।
चोरी गये निगम गण को, फिर से ब्रह्मा को दे डाला।
ऐसे ईश्वर हो, कूटस्थ, आदि हो सकल चराचर के,
विद्वज्जन-स्तवनीय, सत्य-त्रेता-द्वापर में, धर करके
तिर्यङ्मानव-मुनिझष आदि रूप वर, प्रकटित हो करके,
लोगों का उद्धारण धारण तथा संहरण करते हो !
धर्मों को, युग के अनुरूप, प्रतिष्ठित करते रहते हो।
कलियुग में, छिप गुप्त रूप से, रह लेते हो परमात्मन् !
इसीलिए नाम से 'त्रियुग' के, कहलाते हो, वर भूमन् !

"काम, हर्ष इत्यादि विकारों से कलुषित, भर मन मेरा
ग्रहण नहीं कर पाता है, चिंतन, संकीर्तन तुम्हारा।
मधुरादिरसपान से छक कर, जीभ न जाने देती है,
तव वर्णन की ओर मुझे, अन्यों में जकड़े देती है !
सुंदरियों के मुख कमलों का रस लेने वाली चितवन,
आकृतियों पर, तुम्हारी, ठहर नहीं पाती है, इक छन !

दुर्वचनों को नानाविध, सुनने के इच्छुक कान कभी,
सुनने की सोचते नहीं, तव कथा प्रसंग पूत, क्षण भी !
पागल बन, नासिका, भागती है, दुर्गंधों के पीछे,
काया लगती नहीं, अन्य तज, वैष्णव धर्मों के पीछे,
कर्मेंद्रियाँ अलग ही से, मेरी दुर्गति कर देती हैं,
ज्यों सपत्नियाँ पति को, निज-निज ओर घसीटे लेती हैं !

"इस प्रकार, इंद्रियगण के पंजे में फँस, जीते मरते,
स्वीय व परकीय शरीरों में, मित्र अमित्र भाव करते,
भव वैतरणी में डूबे, जग का उद्धार करा देना,
जग-संभव-स्थिति-लय कारक ! तव कर्तव्य है, बचा देना !

"दीनबंधु ! भूले भटके मूर्ख ही पात्रता रखते हैं,
तव करुणा की। हम से जन तो, उसकी चाह न रखते हैं।
कारण, हम सब, सदा लगे रहते हैं, तव प्रिय भक्तों की
सेवा में ! सिर धर पद धूलि, हमेशा जीवन्मुक्तों की !

"तव लीलागुण गानामृत कर पान, मगन रहता हूँ मैं,
अतः नहीं डरता, संसार-उग्र-वैतरणी से हूँ, मैं।
किंतु, शोक करता हूँ, उन मूर्खों को लख कर, सर्वेश्वर,
तव गुणगान विमुख बन, माया-सुख में फँसते जो, नश्वर !

"मुनिजन, निर्जन-स्थानों में करते रहते हैं, तीव्र तपस,
निज-बंधन-मुक्ति की कामना लिये, तोड़ अज्ञान-तमस !

जिनकी रहती नहीं कामनायें, उनका तो अन्य नहीं
कहीं सेव्य-आराध्य, छोड़ कर तुम को और शरण्य नहीं !

"मैं तो, उनमें एक न हो सकता। मुक्ति नहीं चाहूँगा।
तज इन असहायों को, मुक्त नहीं होना, खुद चाहूँगा।
तव सेवा कर लूँगा मैं, जिससे तुम इनको पार करो,
अन्य सहारा नहीं रहा, दीनों का प्रभु, निस्तार करो !

"खुजलाने वाला दोनों हाथों से, पहले सुख पाता,
फिर अंत में, जोड़ना पड़ता है, उसको दुख से नाता।
खुजली जैसे मैथुन आदि सुखों में फँस, भूला भटका,
विरत नहीं होता, न अघाता, देता नहीं उन्हें झटका;
पाता है अंत में, दुःख अति ! तव प्रसाद का भागी जन,
तज कर, सभी कामनायें निज, संतोषी रहता, सज्जन !

"मौन, व्रत, श्रुत, तपोऽध्ययन, निज धर्माचरण, शास्त्र विवरण
विजनस्थल का संसेवन, जप औ' समाधि, ये दस प्रकरण,
माने जाते हैं, प्रसिद्ध साधन, मोक्षलाभ के, लेकिन
यही, जीविका-साधन मात्र बने रह जाते हैं, निसिदिन,
ढोंगी और इंद्रियों के दास बने जीने वालों के,
जीने का साफल्य जुटा न सकेंगे, दुनिया वालों के।

"रूप रहित हो ! फिर भी, तव दो रूप बताये जाते हैं,
बीजांकुर सम, कारण और कार्य वे समझे जाते हैं।

किंतु छोड़ इन सदसद् रूपों को, साधन दूसरा नहीं
पाने का तव ज्ञान गहन, कोई दूसरा विधान नहीं !

"उन दोनों में, भक्तियोग द्वारा तुमको पा लेते हैं,
बुद्धिमान, ज्यों दारु-मथन से, अग्नि प्राप्त कर लेते हैं।
उन दोनों रूपों को पृथक् बनाना तुमसे, शक्य नहीं,
भक्ति बिना, भवदीय ज्ञान संपादन, कथमपि शक्य नहीं !

"जल थल अनिल अनल नभ तुम हो, तन्मात्रायें भी तुम हो,
बुद्धींद्रिय प्राण मनोऽहंकृति तथा चित्त तुम ही तुम हो !
तुम हो सगुण देव ! निर्गुण तुम, संपूर्ण जगत तुम ही हो !
मनवाणी द्वारा जो प्रतिपादित है, वह सब कुछ तुम हो !

"गुण के अभिमानी, जन्ममरण के वशवर्ती, विद्वज्जन,
जान न पाते तुम आद्यंत-रहित को, यद्यपि हैं सज्जन।
जान तथ्य यह, ज्ञानी, शब्दों की माया से रह कर दूर,
वेदवेद्य तुमको, समाधि में पा कर, भजते हैं भरपूर !

"तव मंदिर प्रांगण में माथा अपना टकरा कर प्रतिदिन,
कर लेता जो नहीं दंडवत् बारंबार, पुलक उन्मन,
तव मंगल-कर-स्तवन-समूहों का अक्षर-अक्षर, निसिदिन,
रट लेता जो नहीं बराबर बार-बार, बन भाव मगन,
मन वाणी काया कृत अपने सारे कर्म, प्रीति पूर्वक,
कर देता जो नहीं समर्पित, तव अधीन, सन्मति पूर्वक,

अंत:करण शुद्ध कर अपना, तव शुभ चरण-सरोजों का
कर लेता जो नहीं मनन सप्रेम, तरण के साजों का,
पी लेता जो नहीं कथामृत, तव, कानों में भर-भर के,
करने बढ़ता जो न तुम्हारी सेवा, ललच-ललक करके,
भला, ब्रह्म को प्राप्त कर सकेगा वह, चाहे योगी हो,
वेदी हो या महा तत्ववेदी हो, तप-व्रत-योगी हो ?
अत: प्रदान करो किंकर को, भक्त वशंकर गुरु स्वामिन्,
अनुपम दास्ययोग भवदीय, अनुग्रहपूर्वक हे भूमन् !"

प्रणत बने प्रह्लाद, गिरा हर्षाश्रु, गुणरहित हरि सम्मुख।
बोले बन संतुष्ट स्तवन से, क्रोध बिसार, नृहरि हँसमुख।
"साधु ! प्रसन्न बना हूँ अर्भक, देख चरित्र तुम्हारा मैं !
शुभ होगा ! कृपया मन वांछित लाभ सभी, तुम्हारा मैं
दूँगा चिंता न करो ! भक्त-काम-दुघ दुरवलोक्य मैं हूँ !
लखने पर मुझ को, तर जाते, भव से, जंतु, वरद मैं हूँ !

"सर्वात्मना साधु, विद्वज्जन, सब कल्याणों के ईश्वर
मुझ से, माँग लिया करते हैं, अपने-अपने वांछित वर।
मैं भी, सफल किया करता हूँ, उनकी सभी कामनायें।
माँगो वत्स ! त्याग शंका भय, मन की सभी कामनायें !"

प्रह्लाद की सकाम प्रवृत्ति जानने, हरि यों बोले तब !
ऐकांतिक निष्काम भक्त होने से, जान काम बेढब

अंतराय है, भक्तियोग का, बोले वह, सिर नमित किये—
"जन्म-प्रभृति कामों का अनुभव और चाह भी अमित लिये
रहने वाले मुझ को, वर देने का लालच दिखला कर,
वंचित करने की सोच रहे हो स्वामिन् क्यों फुसला कर ?

"भव के बीज, हृदय के बंधन-रूप, काम गण से डर कर,
चाह लिए मोक्ष की, आत्मरक्षा की, संयम अपना कर,
तव चरणों के निकट आ गया हूँ, कामों से, इंद्रिय गण
तन, मन, धीरज, प्राण, मनीषा और धर्म के सब साधन,
मिट जाते हैं लज्जा, स्मरण, सत्य, तेज, तथा ऐहिक धन !
जग में सेवक, अर्थ-कामना से, करते नरपति-सेवन,
राजा भी, करने को सिद्ध प्रयोजन, उनको देते धन ।

"यहाँ बात उलटी है ब्रह्मन्, मुझ में है, कुछ काम नहीं,
और प्रयोजन का तो प्रभु में, यत्किंचित भी नाम नहीं ।
फिर भी वरद शिरोमणि ! मुँह माँगा वर देना, यदि चाहो
तो वर दो ऐसा कि, कामना बीज अंकुरित ही ना हो !
कामों से छूटा जन, तुम्हारे समान वैभवशाली
होता है ! ॐ नारसिंह ! परमात्म ! नमस्ते ! जयशाली !
ॐ नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने !
हरयेऽद्भुत सिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने !"

रीझ गये हरि, बोले फिर–"प्रह्लाद साधु ! तुम से ज्ञानी,
ऐकांतिक जन, मुझ में रखते नहीं काम कुछ, विज्ञानी !

फिर भी मम संतोष के लिए, अधिक नहीं, मन्वंतर तक
असुराधिपगण का प्रभु बन कर, सारे सुख भोगो भरसक !
मेरी शुभ लीलाओं का, कल्याण बुद्धि से, श्रवण करो
सब भूतेश्वर, मुझ यज्ञेश्वर, ईश्वर को हृदय में धरो !

"सब कर्मों द्वारा, मेरी पूजा कर, कर्म मिटा लोगे,
भोगों द्वारा पुण्य मिटा, निष्काम पुण्य-व्रत कर लोगे।
उनसे, काट सभी पापों को, कालांतर में, तन तज कर,
बंधन काट सभी, आ जाओगे, मेरे ढिग, यश धर कर,
जिससे, तीनों लोक चमक पा जायेंगे, भास्वर बन कर
निर्जर पति जयगान करेगा, जिस यश का, नत शिर बन कर!

"मनन करे, यदि नर, मेरा अवतार विभव, यह अति पावन,
मेरी लीला अवतारों का, तव उदार महिमा गायन,
फोड़ सकेगा, आसानी से, सारे कर्म बंधनों को,
तोड़ सकेगा, जनन मरण के, अपने, सुदृढ़ बंधनों को !"

बोले तब प्रह्लाद विष्णु से—"पुरा समय प्रभु ने मारा,
हिरण्याक्ष, मेरे चाचा को, श्वेत वराह बन विदारा।
भर मन में, भाई के वध का बदला लेने की इच्छा,
भर कर रोष अनल्प, पिता मेरा, मन का बन कर कच्चा
समझ न पा, सर्व लोक ईश्वर 'पर' प्रभु का वर रूप सही,
शत्रु समझ, तव जन पर मुझ, कर बैठा, अंत्याचार सभी।
आज, तुम्हारी शांत दृष्टि से, निर्मलता को प्राप्त हुआ !
शुद्ध बना, वह, अघ समूह धो अब तक का, निज किया हुआ।

प्रभु की करुणा का वह भी भागी बन जावे, दोष-अयन,
करता हूँ याचना, मुझे वर दो, ऐसा हे कमलनयन !
निज भक्तों के मुखपद्मों के पद्म-मित्र ! श्रीकमलायन !
भक्त-पाप-लतिका-लवित्र-पटु ! भव्यगात्र ! वर करुणाघन! "

सुन वाणी, निज जन की, नत-जन-वत्सल, बोले, प्रेम सहित,
"तुम हो मेरे अपने भक्त, जनम दे तुमको, अमराहित
यह, तव जनक, त्रिसप्तपूर्वजों के सँग अपने, पावन बन,
आज प्राप्त हो गया सुगति को ! यद्यपि हों घोर अपावन,
वह जन, जो निवास करते हैं, उन स्थानों में मनभावन,
जहाँ ज्ञानदीपजितानेकभवांधकार वाले मम जन,
करते हों लीला-विहार, पावन अवश्य हो जाते हैं।
अपने दुष्कर्मों से सारे छुटकारा पा जाते हैं !

"सूक्ष्म तथा पृथु भूत जाल में, सब वांछाओं को तज कर,
जो भी तुम्हारे समान, करते हैं, मम सेवा भवहर,
बन जाते हैं, मेरे भक्त वही ! मेरे भक्तों में सब,
श्रेष्ठ और आदर्श, दूसरों के हित, बने, वत्स, तुम, अब !

"मुझ पर केंद्रित कर निज मन, वेदों में प्रतिपादित विधि से,
प्रेतकर्म कर लो, अपने जनक के, परम श्रद्धा-मति से।
रण में, प्राप्त किया है, इसने, मेरा आज अंगमर्शन,
क्षण में प्राप्त किया है, गतकल्मषशरीर, शुभ अघमर्षण !
पा अब, तर्पण सलिल तुम्हारा, प्राप्त करेगा उत्तम गति,
पुनरावृत्तिरहित शाश्वत लोकों में जायेगा, द्रुतगति।"

सिर माथे धर, नरहरि का आदेश, तुरत संपन्न किया
प्रह्लाद ने, हिरण्यकशिप का क्रिया-कर्म, निष्पन्न किया ।
विप्रों ने, राजतिलक उसका कर, गद्दी पर विठलाया !
पूर्ण-प्रसन्न नृसिंह देव को, लख कर, ब्रह्मा निकट गया,
अमर गणों को साथ लिये । श्रीहरि से यों कर जोड़ कहा—

"देव देव ! देवेश्वर ! सकल-भूतभावन ! मुझ से वर पा,
बना दृप्त यह, मम सृष्टि के किसी प्राणी से मरण न पा,
सब कर्मों को खंडित कर, प्रभु से दंडित हो, मरा यहाँ,
धन्यभाग ! लोकों का मंगल हुआ ! निहत हो गिरा यहाँ ।
मृत्यु भीति से, दे छुटकारा, इस बच्चे को बचा दिया !
परम-भागवत-शिरोरत्न की कर रक्षा, वरदान दिया !

"कमलनयन ! तव नरहरि का अवतार प्रसंग, श्रद्धया जो,
हृदयांतर में, रख उसका चिंतन करते हैं, सुधिया जो,
यमराज की प्रचंड यंत्रणाओं से, वे त्रस्त न होंगे,
अपमृत्यु की, कराल कुटिल दंष्ट्राओं से, ग्रस्त न होंगे ।"

बोले श्रीनरसिंहदेव—"चतुरानन, कभी न देना वर
ऐसे, देवशत्रुओं को, लोकों के भयकारक दुर्भर !
पापों से जो होते हैं उत्पन्न, उन्हें वर दे देना
प्राणांतक विषधर नागों को, होगा, अमृत दे देना !"

फिर, हो कर संपूजित, ब्रह्मेंद्रादि देवता जन गण से,
भगवन, श्रीनरसिंह देव, हो गये तिरोहित ! शुभ मन से,

प्रह्लाद ने, किये प्रणाम, भगवत्कला-रूप देवों को,
शिव विरिंचि दिक्पाल प्रजापति गण को, विश्वेदेवों को !

शुक्राचार्य आदि मुनियों को साथ लिए, तब चतुरानन,
दानव दैत्य-राज्य-श्री का, अधिपति कर बैठे विनतानन
प्रह्लाद को संत-जन-मणि को। सब ने आशीर्वाद दिया।
ईशानादि सकल देवों ने निज लोकों का मार्ग लिया।

हिरण्याक्ष औ' हिरण्यकश्यप दोनों, पार्षद थे, पहले
विष्णुदेव के ! विप्रशाप-वश, ग्रहण किये ये तन, पहले
जन्म काल में, तथा निधन को प्राप्त कर गये हैं दोनों,
श्वेतवराह तथा नारसिंह रूपों से हरि के दोनों।

जन्म दूसरे में, रावण कुंभकर्ण नामक राक्षस बन
मारे गये, वही, श्रीरामरूप में, हरि से, उद्धत बन।
फिर, कृष्णवतार धर प्रभु ने, दोनों को मार गिराया !
जन्म तीसरे में, शिशुपाल दंतवक्त्रों को, कर दाया।

इस प्रकार, 'जन्मत्रय' में, घोर वैर ठाने श्रीहरि से,
निसिदिन उनको रख मन में, भयवश, जा मिले पुनः हरि से।
निखिल कल्मषों से छुट कर 'जय-विजय' पार्श्वचर वे दोनों।"
फिर बोले नारद, धर्मराज से हाथ, जोड़ कर, दोनों।

"श्री रमणीय नृसिंह विहार ! इंद्र-अरि का संहार ! महा–
भागवत-शिरोरत्न-निशाचरपति-सुत का संचार ! अहा !

निर्मल मन से, जो सुनता या पढ़ता है, वह उबरेगा।
शुभ शरीर धर, भय विरहित लोकों में, जा कर विहरेगा।

"सरसिज-भव, शारदा, सहस्र मुखोंवाला पन्नगपति भी
कर चिंतन, मन में वर्णन कर पाते नहीं, गिरा मति भी
रह जाते असमर्थ जहाँ, पहुँच नहीं पाते, वह ब्रह्मन्,
धर कर नाम 'जनार्दन' का तुम्हारे घर में गुरु ब्रह्मन्
साथी, सुहृद, सुबंधु निकटतम, सचिव, चित्तहारी, भारी
फल-संधायक बन, विहरण करते हैं, गदाचक्रधारी!
पीतांबरधारी! हारी! बृंदासंचारी! अघहारी!
गिरिधारी! राजन्! यह है सचमुच तव अहोभाग्य, भारी!'

हरि: ॐ

तत्सत्

卐

आंध्र भागवत परिमल

गजेन्द्र मोक्षण कथा

श्री वेङ्कटेशायनमः

श्री गजेन्द्र मोक्षण कथा

श्री कण्ठ-चाप-खण्डन !
पाकारि-प्रमुख-विनुत-भण्डन !
विलसत्काकुत्स्थवंशमण्डन !
राकेन्दुयशोविशाल ! जय रामनृपाल !

श्रीमन्नाम ! पयोदश्याम ! धराभृल्ललाम !
श्री जगदभिराम ! रामाजनकाम !
महोद्दाम गुणस्तोमधाम ! जय दशरथराम !

मनुजाधीश्वर ! चौथा मनु 'तामस' था 'उत्तम' का भाई,
पुत्र प्रियव्रत का । उसके सुत पृथुनर केतु आदि भाई
अति बलशाली दस हो गये धरणि-पति । और अमरगण थे
सत्यक-हरि-वीर नाम के जन । 'त्रिशिख' बने सुरगणपति थे।
ज्योति, व्योम इत्यादि हुए मुनि । हरिमेध तथा हरिणी का
पुत्र बने हरि ने जनम लिया । ग्राह ग्रसित मद गजपति का
बंधन काट उसे मुक्त किया, प्राणों के भय से, कृपया !
करुणासागर अखिल जगत्पति ने, दरसा कर भूरि दया !

इतना सुन कर राजा ने शुकदेव मौनि से प्रश्न किया—
"हे मुनिनाथ ! मुझे बतलावें कथा समूची स्नेह धिया ।

उपजा क्यों नीराट औ' वनाटों के बीच घोर विग्रह ?
घोराटवी विहारी कुंजर, कैसे कर पाया निग्रह
जलग्रह का उस ? कैसे मिटी व्यथा उसकी, अनुकंपा से
पुरुषोत्तम की ? कानों में घोलें अमृत अनुकंपा से।
मन मेरा उत्सुक उत्कण्ठित है, सुनने यह वर गाथा,
संतर्पित करने निज को औ' कानों को, तज भव-बाधा !

"जिन गाथाओं का विषय बने, हरि, ईश्वर पुण्य-श्लोकी,
स्तवन किये जाते हैं विद्वज्जन से, गुरु, वृद्ध, विवेकी
सुनते रहते हैं सहर्ष उनको, गुन कर पुण्य कथायें !
मैं भी सुनूँ अतः मुनिवर, छूटें जिससे सकल व्यथायें !"

समासीन मुनिगण की ओर विलोक, सूत ने बतलाया,
सुमिर प्रसंग पूत वह, हर्ष अनल्प हृदय में भर लाया।
सुन यह प्रश्न, परीक्षित नरपति का प्रायोपविष्ट[१], भगवन
शुकयोगी बोले त्रिकालदर्शी, गाथा वह मनभावन।

सुनिये हे राजेंद्र ! सुधा-सागर में था 'त्रिकूट' नामक
नगपति एक, अयुत योजन ऊँचा औ' चौड़ा, बन व्यापक !
कांचन, रजत, लौह के शृंग तीन उस पर संशोभित थे,
अंतराल में, बढ़ जाते जो, नभ को करने चुंबित थे।
शृंगों के तटवर्ती रत्न धातुओं से बहु चित्रित हो,
दिग्दिगंत-पृथ्वी-नभ जगमग उठते थे, किम्मीरित हो !

१. निर्जला व्रत रख कर मृत्यु की प्रतीक्षा करने वाले।

गुरुतर लता-कुंज-पुंजों की सघन सुशीतल छाया से,
झर्झर्झर् झरने वाले झरनों की कल-रव माया से,
नग-छवि से आकृष्ट अनगिनत अमरों के नभ-यानों से,
मुखरित रहा, सानुचारी किन्नर-मिथुनों के गानों से !

इसके अतिरिक्त, मातुलुंग[1] लवंग-लुंग औ' भल्लातक,
सरल, पनस, वंजुल, बदरी, वकुल कुटज, वट औ' आम्रातक,
कुरवक, कुंद कुरंटक, कोविदार औ' नारिकेल, खर्जूर,
सिंधुवार चंदन पिचुमंद और मंदार जम्बु-जम्बीर,
वर माधवी, मधूक, ताल, तक्कोल, तमाल-जाल, हिंताल
बाल, रसाल, प्रियालु, विल्व, आमलक, कदंब, क्रमुक, गुरु साल,
कंदराल, कांचन, कदली, करवीर, कपित्थ, शिंशुपाशोक,
लाल पलाश, शिरीष, नाग-पुन्नाग, मल्लिका, मरुवक ओक,
चंपक, शतपत्र प्रमुख मधुऋतु का सौभाग्य बने, अंकुरित
पल्लवित, कोरकित,कुसुमित,फिर फलित,ललित शृंगार भरित
विटपी-विटप तृण लता वीरुध् निवहों से वन समलंकृत,
मणिवालुका-अनेक-विमल-पुलिन-तरंगिणियों से संयुक्त,
अति विचित्र विद्रुम लता महोद्यानों में, पिक-कीर-निकर–
निशित-समंचित-चंचूपुट-निर्दलित - शाखि-शाखा - अंतर–
पूर्ण-पक्व-फलरंध्र-प्रवर्षित-रसधारायें लिये बहुल,
कनकमय-सलिल-सरवर के कांचन कल्हार कुमुद सुविमल–
कमल-परीमल-मिलित-कबल-आहार सतत अंगीकृत कर,
परिश्रांत-कांता-जन-आलिंगित वर कुमार-विट-मधुकर–

१. इस वर्णन में तरह-तरह के वृक्ष, लता, पशु, पक्षी आदि गिनाये गये हैं।

समुदय निकट, संचरत् समुदंचित, शकुंत, कलहंसी, बक,
कारंडव, जलकुक्कुट, चक्रवाक, कोयष्टि, बलाक प्रमुख–
जलविहंग-विसर विविध कोलाहल बधिरीकृत भू-नभ युत,
चंद्रकांत मरकत कमलराग नील वज्र वैदूर्य अमित,
गोमेधिक पुष्यराग मनहर कलधौत-रत्न-युत भास्वर,
बहुशिखर-तट-दरी-विहार-रत सिद्ध विबुध किन्नर चारण,
विद्याधर, गंधर्व, गरुड, किंपुरुषमिथुन गण संचारण
संतत-सरसालाप तथा संगीत प्रसंगों से मंगल,
मधुर मुखर बन, गंध, गज, गवय, गण्ड, भेरुण्ड, शश, शार्दूल,
कंठीरव, खड्ग-शरभ, शल्य, चमर, सालावृक, भल्ल, वराह,
मर्कट, महिष, महोरग, सारँग, मार्जालादि मृगवर समूह
का विलोक संरंभ समर का, चकित थकित बन, शरणागत–
शमन-किंकरों से संकुल, उस महाशैलपति के उपगत,

भिल्ली भल्ल लुलायक
भल्लुक फणि खड्ग गवय वलिमुख चमरी
झिल्ली हरि शरभक किटि–
मल्लाद्भुत-काक-घूक-मय कानन में ! [1]

अन्यालोकन भीकर, जित-आशानेकप[2]-निकर कुछ सुघर
वन्येभेंद्र मत्त-तनु, व्रज्या-विहार-जन्य पिपासा धर,
विकट भूरिकुधरदरीमुख तज, खेल खेल में बढ़ निकले !
शीतल सलिलानिल पा कर, कासारावगाहनार्थ चले !

१. 'कंद' नामक एक तेलुगु छंद । २. दिग्गज

अंधकार-घन, डर सूरज से, अद्रि-गुहाओं में दिन भर
दुबके बैठे हों प्राण लिये, फिर अवसर अच्छा गुन कर,
संध्या को, वृद्ध अंशुमाली को विलोक, बदला लेने
झपटे हों बाहर, निकले त्यों, गुहा छोड़ गज नृप, जानें !

अचलों को देख नहीं होते विचलित तनिक, नहीं हटते
[illegible]ों के मार्ग से, टूट पड़ते हैं उन पर चिंघाड़ते !
कड़क बिजलियों की सुन कर, अड़ जाते हैं निर्भय पथ पर,
शक्ति-अनंत-सुशोभित मद वारण दुर्वार साहसी वर !

झुण्ड बाँध पुण्डरीक घुस जाते, कुंजों में
छिप जाते घोर ऋक्ष प्राण ले, गुफाओं में !
वन-सूकर धीर दुबक जाते हैं, विवरों में,
हरिण भाग जाते हैं, बगटुट, हरिदंतों[1] में !
महिषगण छिपे रहते, भाग कर, तलैयों में
कपिगण चढ़ते तुरंत, उछल गण्डशैलों में !

वन भुजंग क्रूर, शरण लेते वल्मीकों की,
नीलकण्ठ उड़ जाते, नील गगन देशों में !
भद्रगज - घटा के लीलाविहार - रत - भयकर,
पवन मात्र के लग जाते ही कंपित हो कर,
चमरियाँ बिचारी हौले से पग धरती हैं
वाल - चामरों के विजन डुलाया करती हैं !

---

१. दिशाएँ

मद-गज-दान-सुगंध पान कर, अति अतृप्त आकांक्षा से,
भर-भर पेट, भूल अपनापन, श्रम-वारण की वाञ्छा से,
मधुप कुमारों के झुण्ड कई, उनमन गुञ्जन कर बैठे !
निज प्यारी सहचरियों संग प्रेम क्रीडायें कर बैठे !

मधुप एक, अन्य मधुप की रमणी को देख सदा पीते
मदकरि-गण्ड-सलिल-परिमल, ईर्ष्या से भर कर धकियाते
उसे दूर, निज प्रिया मधुकरी को लग गया, पिला देने
निज कर से मद जल, ढीठ बने, उसका हृदय खिला देने !

मातंगी-मद गंध भरे अंतरंग में, मद-भृंगी-गण,
संगीत के विशेष दिखाता रहा, उमंग भरे उनमन।
देख वल्लभाओं को निज-निज, आगे बढ़ते मद जल को,
मधुकर-वल्लभ सोल्लास खड़े लखते थे, तज मद जल को !

इस प्रकार मदजल लोभी भ्रमरों से परिवेष्टित हो कर
कलभ, उतर पड़ते छोटे गड्ढों में तृष्णाविल हो कर।
कोना-कोना सूँघ, रौन्द देते हैं निज पदस्तंभों से,
खाते पल्लव-पुंज घने, फल वृक्ष गिराते कुम्भों से।
व्याघ्र-हरिण-वन-महिषों का पथ रोक दण्ड उन्हें देते,
कर, सर ध्वस्त, खेलते, पृथु दन्त भिड़ा अचल हिला देते !

तुण्डों से भयकर, मदजल वृत गण्डों से, गुरु कुम्भों से
टकरा जाते तो भरते दिक्दिगंत घोर धमाकों से !

गुरुतर गिरि शिखर लुढ़क पड़ने गेंदों मे 'धम्' 'धम्' करते
दिशियाँ स्तंभित रहतीं ! अग जग रह जाते धक् 'धक्' डरते !

चप्पा-चप्पा भूमि भयानक जंगल की थर्रा देते
अपने पद-घट्टन से यों, सर्वत्र आप वन बढ़ जाते
उन गजयूथों में से गजपति एक छूट, पथ भूल गया
अपने साथ लगे हथिनी-समूह को ले कर भटक गया ।

दैव योग वह राजन् ! ईश्वर-प्रेरित हो कर वह हाथी
बढ़ा किसी अज्ञात दिशा में, साथ लिए संगी साथी !

ताल-तलैयों के तीरों पर उगे सुकोमल घासांकुर
पक्षपात तज सखियों को देता, ला मुँह पर हासांकुर ।
घनी झाड़ियों की सुम-गुच्छों भरी टहनियों को लुन कर
प्राणवल्लभाओं में देता बाँट बराबर वह चुन कर ।

दान सलिल से शीतल बने, कर्ण के पंखे झल-झल कर
सहचरियों की तनुओं का स्वेद सुखा देता, खिल-खिल कर!
सहला कर हौले से, प्रिया कंठ देशों को मर्दित कर,
बातें मधुर प्रेम की, करने लगता है, फिर, कर्ण-मधुर !

पीछे लग, पुट्ठों को सूँघ प्रीति से, सूँड उठा देता
ऊपर नभ की ओर, जान अवसर, स्मर-क्रीडा कर लेता,
बन कर चूर थकावट से, आराम चैन से कर लेता,
मत्त मतंग-वीर, अपनी महिमा यों,दर्शित कर देता !

देख कुंभि-विभु के कुंभों की गोलाई, लज्जित हो कर
कुच, रह गये, युवतियों के, आँचल की ओट, त्रस्त हो कर !
गमन देख गंभीर, हार कर अबलाओं के गमन, रहे
आश्रय ले वर नूपर गण का ! अति विषण्ण औ' विमन रहे !
शोभा स्निग्ध विलोक शुण्ड की, षोड़शियों के ऊरु डरे,
साथ लिए ज्योति मेखला की रहे, झेंप कर भीरु, अरे !

श्वेत-दंत-छवियों से विजित हास, बालाओं के, धुन सर,
मुख चंद्र की दीप्तियों के पट ओढ़े रहे, दीन बन कर ।
अंजनाभ्र-कपिलादि दिग्गजों की रमणियाँ लाज तज कर,
देख सलोना रूप रीझ कर साथ लग गईं तो, सज कर
आगे को बढ़ चला हस्तिपति मस्ती में झूमता हुआ,
भूरि-राशि-सा जंगम रूप गुणों की वर, घूमता हुआ !

इस प्रकार नाना कांतारों में विहार करके, आखिर,
मद गजपति ने तीव्र पिपासा का बन लक्ष्य, दूर जा कर
निज करिणी-गण के समेत, देखा, कासार एक सुंदर
नव-फुल्लांबुज-कल्हार-नटत्-इंदीवर-गणयुत, सुंदर
वट हिंताल रसाल साल सुमलता कुटीरों से शोभित
तट वाला, दुर्वार कमठ मीन ग्रह वाला, मधु-जल-युत
चटुलोद्भूत मराल चक्र बक गण का क्रीडा स्थल, श्रीयुत ।

रहित कलंक, अनन्यपुरुष-संचारी, उस कमलाकर को
लख, पंचेंद्रिय ज्ञान भूल, मद गज समूह अवगाहन को

कूद पड़ा, उसमें तो, वन-श्री ने अनुपम आतिथ्य दिया,
घर आये उन नये पाहुनों का सत्कार, अपार, किया।

शीतल वनज सुगंधित मंद वायुओं से, तन सब पुलके !
कमलनाल-भोजी-कलहंस-रवों से, विमल कर्ण पुलके !
फुल्लेंदीवर-सौरभ पा, घ्राणरंध्र, अतिशय सुखी हुए !
पा निर्मल कल्लोल निर्गतासार, शुष्क मुख आर्द्र हुए !
नेत्रों को, प्रीतिभोज न्यारा प्रस्तुत किया, मधुरिमा ने,
त्रिजगों का अभिनव सौभाग्य-प्रदीप-रूप शुभ सुषमा ने !

शुण्डों में भर-भर जल, गण्डों पर छिड़का लेते, अपने,
भर लेते, पृथु-उदर खूब, करते रव न्यारा, गज अपने !

तब गजपति ने कर्षण कर, कर-विवरों में जल भर, फेंका
ऊँचे गगन मार्ग में, पूरा ज़ोर लगा सत्वर फेंका !
उस वेग में प्रचण्ड, छूट पानी के साथ नभस्थल में
नक्र ग्रह पाठीन कई, धर बैठे झपट नभस्थल में
उड़ने वाले मीन कर्कटों को स्पर्धा में सुध खो कर !
लख अद्भुत यह अमर खड़े रह गये ताकते सुध खो कर !

करिणी-कर-निःसृत-कंकण छवि[1] में ढक, दीखा गजप असित
गिरिवर का, झरनों वाले, करता सौन्दर्य-मान विहँसित।
ढँक हस्तिनीहस्त-विन्यस्त सरोजों में लगता, शोभित,
करता हुआ हज़ार आँख वाले सुरपति की छवि शोषित !

१. जल की शोभा

जब छिड़का देतीं कल्हार पराग, कलभियाँ सब मिल कर,
कनक-अचल के गौरव को होता वह प्राप्त, अतीव सुघर!
कुंजरियाँ रचतीं तन पर कुमुदकाण्ड जब, लगता प्यारा,
अहिपतिमण्डन-शोभित [1]प्रभु का वैभव दिखलाता न्यारा!
मद-करेणु-कर-मुक्त, मुक्त-शुक्तियाँ लिए हँस देता है,
चपला सहित बादलों की अनुपम आभा हर लेता है!
जल-केलि में निमग्न रहा, सखियों समेत यों करि वल्लभ
कमलाकर में कूद, अनर्गल स्मर-विहार करता, दुर्लभ!

मदगज-विविध-विहार-विशकलित नूतन लक्ष्मी विभवा बन,
स्मरविद्या-नि-रूढ-पल्लव-प्रबंध-परिकंपित मृदु नूतन
कुसुमांगिनी सदृश, व्याकीर्ण चिकुर-मधुकर समूह वाली,
विगत-रसवदन-कमला औ' लंपटित जघन-पुलिनों वाली
दृढ निज-स्थान-चलित-कुच-रथांग-युगल लिये, वह सरलक्ष्मी
शोभित हुई, निराली सुषमा में, ज्यों अभिनव-सुर-लक्ष्मी!

'भुग' 'भुग' कर सहसा, बुद्बुद के छटा-पटल बहु, घुमड़ उठे
तुंग-भंग, जल में स्पंदन पा कोई, दिव लौं उमड़ उठे!
भुवन भयंकर 'फू फू' रव सुन, घोर नक्रग्रह गण काँपा,
झंझावश, दुर्वार वाल-विक्षेप-जनित, अग जग काँपा!
'घुम' 'घुम' कर आवर्त अनेकों, क्षुब्ध जलों को कर उट्ठे!
क्रुद्धतरंग-घट्टनों से, कूलद्रुम, हहर उखड़ उट्ठे!

---
१. शंकर—नागाभरणधारी।

कैसा यह उत्पात घोर? सरसी में लो! उन्मत्त सदृश,
मकराधिप एक, देख इभराज को, प्रकट कालाग्नि सदृश,
हुंकृति कर, लंघन कर, झपट प्रचण्ड वेग से धर बैठा!
स्वर्भानु ज्यों भानु को कवलित करे ग्रास-सा, धर बैठा!

लाघव से अतिशय, छुड़ा पकड़, दीर्घशुंड को दे मारा
करि पति ने तो, जल में पड़ा मगर, दंगल में ज्यों हारा!
फिर दुगुने ज़ोर औ' शोर से, अगले पद गज के, दोनों
जकड़ लिये! तब मद गज वल्लभ धृतिशाली ने निज दोनों
भालों सम दांत गड़ा, कर्कश छिलके नक्र-पृष्ठ पर के,
चीर फाड़ फेंके चहुँ ओर! जलग्रह पकड़ छोड़ कर के,
नाख़ूनों से उठा खरोच, वाल का मूल शूर करि के,
पटक पछाड़ डालने यत्न किया, नीर में डुबा, सर के।

करि को मकर खींचता भीतर, औ' मकर को द्विरद बाहर,
यों दोनों आपस में गुँथ कर, रहे जूझते श्लथ हो कर।
देख प्रताप ज़िद्द दोनों के, अतल-कुतल-भट चकित रहे!
'करि को मकर, मकर को करि पा न सकेगा!' कह थकित रहे!

निखिल जनालोकन भयकर बन, अन्योन्यविजय-कांक्षा-वश,
सरसी को संक्षुभित बना, करि मकर रहे लड़ते, साहस–
दर्शाते अनुपम! हरि हरि से, गिरि गिरि से उलझ पड़े हों!
जीवन रण में, ज्यों प्राणी ऊपर-नीचे हो जाते हों!

कभी धँसे जाते भीतर, फिर कभी खिंचे आते बाहर,
कमलाकर में, परिभ्रमण करते चहुँदिशि, आतुर हो कर,
कभी लड़खड़ा जाते थक, फिर तुरत हड़बड़ा कर बढ़ते,
'ऊभचूब' हो जल में संकुल, उत्साह में उमड़ पड़ते !

निशित नितांत दुरंत दंत-कुंत गड़ा, हाड़ तोड़ देता,
करि मकर के, रक्त धाराओं से, जल सारा भर देता।
फिर भी ग्राह पकड़ अपनी घातक, दृढ़तर करता जाता,
परिभ्रमण वेग से, जलचरों की जानें हरता जाता !

बचने घातों से आपस के सीपों और सिवारों के
कर लेते बीच में ढेर, जो तिरते ऊपर पानी के।
मोड़े मुख हार से, जीत की प्यास लिए चौगुनी, अहा !
दिवस-रात्रि ज्यों लगातार स्पर्द्धा में लड़ते रहे महा।

छोड़ नींद खाना-पानी शूरता अकुंठित दर्शाते,
लड़ने के जोश में चातुरी, रहे परस्पर बरसाते !
द्वेष रोष, मात्सर्य शत्रुता के भाव, रहे बढ़ते ही,
प्रतीकार, विजय की चाह में, दोनों, रहे अकड़ते ही !
उस रण से गजपति के, मकर-मीन औ' कर्कट गण सारे,
भू-नभ के, मित्र[1] के निलय को गये पहुँच, निज बल हारे !

बारंबार नक्र वन-गज को लगा खींचने, पानी में,
करि भी, दुर्दम शक्ति दिखा, जीत की आस ले, पानी में

१. सूर्य और वरुण = सूर्य मंडल और वरुणालय, समुद्र

मचा घोर संक्षोभ, वज्र-दंत गड़ा, अरि की छाती को,
छलनी करने लगा; धरे सूंड से ग्राह की ग्रीवा को
बारंबार लगा मरोड़ने तथा मारने झटका दे !
कुंजरियों का यूथ वहाँ, तट पर, मन में विषाद लादे !
खड़ा रहा देखता ग्राह से लड़ते, सर में, गजपति को,
पैर न उठे लौटने वापस, तज निज वहाँ प्राणपति को ।
रखते हैं जगत में सदैव, पुरुष स्वार्थी, रमणी तति को—
कोमल कुटिल प्रेम के फंदे में, अपने, अबला-मति को !

जीवन[1] से जीवन पा मकर, शक्ति औ' स्पर्द्धा में उन्मद
बना रहा; बढ़ता ही गया, उत्तरोत्तर, अतिशय दुर्मद ।
किंतु उधर, मद गजपति, सिंह पराक्रम तो, धीरे-धीरे,
कृष्ण-पक्ष-शीतभानु[2] सा, थकित रहा कमलाकर-तीरे !

वर मद वारण को विलोक कर, श्रांत क्लांत, हौसले बढ़े
जलग्रह के; सहसा हुंकृति कर, अरि कुंभों पर बड़े-बड़े,
कूद पड़ा पूरा ज़ोर लगा, पैरों से कंठ पुष्ठ पर,
हमला कर बैठा, पुच्छ हिला प्रलयंकर हृष्ट-पुष्ट खर !
खेल-खेल ही में, चूर-चूर करने लगा, प्रताड़ित कर,
हाड़, मांस, संधि ग्रंथियाँ, वज्रोपम दंत, व्यथा दे कर !

बदल पैंतरे जल में डूबा रहता निष्क्रिय-सा पल भर,
फिर तीर-सा झपट्टा मार डुबो देता मद-करि को धर !

१. पानी २. चंद्रमा

कभी जलों में छिप जाता कुछ देर, दीन गज बढ़ जाता
पानी से बाहर होने प्राण बचा, तो, झट अड़ जाता
राह रोक उसका, अगली टाँगों को जकड़े भिड़ जाता !
छीना-झपटी से प्राणांतक गज अति व्याकुल हो जाता !

आगे-पीछे क़दम न पाता बढ़ा, ढेर-सा गिर जाता
गहरे पानी में ! ज्यों-त्यों कर उठता पुनः लड़खड़ाता।
किंतु हाय ! आघातों से घातक तब भी त्राण न पाता !
क्रूर कुटिल कौतुकी ग्राह तंग उसे करता ही जाता !

यों विस्मित कर नक्र-चक्र को, निज निर्वक्र-पराक्रम से,
अल्प-हृदय-ज्ञान-दीप का कर तिरस्कार, स्वपराक्रम से
बढ़ने वाले गहन-घोर-माया-अंधकार सा जलग्रह,
महा साहसी, उत्साही, अंतिम कर बैठा जल-विग्रह !

पाद-द्वन्द्व रोप पृथ्वी पर, बाँध पवन, पाँच इंद्रियों
का उन्माद मिटा, बुद्धिलता में नव पल्लव लगा, तपो
निष्ठित बन, सानंद-ब्रह्मपद-अवलंबन-रति में क्रीड़ा
करने वाले योगिचंद्र सा नक्र बढ़ा, पहुँचा, पीडा
अतिशय विक्रम में! करि को धर लिया, दिखा कौतुक क्रीडा !

वनगज को करने वाले यों तंग, वनचराधिप को लख,
वन-गज [1] के नाते डर कर, वज्रि-गज श्वेत पड़ गया, ठिठक !

१. समुद्र जल से उत्पन्न गज = ऐरावत

नीचे गिरा देवपति को, अमरों को भगा दूर सब ओर,
बगटुट भाग चला नभ पथ में, गिरा सुरों को कर अति ज़ोर!

ग्राह दुरंत-दंत-परिघट्टित-पाद-खुराग्र-शल्य वाला
हाथी बना रहा असहाय, दीन प्रशिथिल-तन-मन वाला !
फँस जीवन-रण में, अतिशय मोहलता बद्ध पद-द्वय को
छुड़ा न सकने वाले देही सम, शंकित, गत-श्री श्री हो ! –

भूल थकावट, भूख-प्यास, स्वाभिमान-वश हो कर पागल
वारण लड़ता रहा जलग्रह से अविरत निसिदिन पल-पल !
दशशत वर्ष व्यतीत हो गये, यों उद्दण्ड चण्ड रण में !
तब पृथुशक्ति धैर्यशाली गज, अविचल साहस खो मन में

अरि-बल औ' निज-बल की कर तुलना, शिथिल हो पराभव से,
पूर्व-पुण्य-फल-रूप दिव्य ज्ञान संपदा के प्रभाव से,
लगा सोचने व्यथा दैन्य बरसाते अति कातर हो कर—
"वृथा मान, अभिमान वृथा सब, वृथा प्रयत्न विफल हो कर
रहे सभी मेरे, इतने वर्षों के, हा ! सब कुछ खो कर,
आज रह गया हूँ कंगाल, हतप्रभ, मद गजपति हो कर !
अब कैसे क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? क्या सोचूँ ? उपाय क्या ?
किसे पुकारूँ ? किसकी जाऊँ शरण ? मिलेगा आश्रय क्या ?

"इस जलचराधीश का अर्गल-रहित विहार कौन रोके ?
कौन करे संत्राण हमारा सुन पुकार सकरुण हो के ?

रहे नहीं क्या सर्व समर्थ, सकल-व्यापार-परायण-जन ?
यदि हों कहीं, गुहार दीन की सुनें, प्रपुण्यात्मक सज्जन !

"नानाऽनेकपयूथों[1] के पूजन-अर्चन का भागी बन,
प्रियतम बन दशलक्ष-कोटि करिणी समूह का, मन भावन
दान सलिल परिपुष्ट चंदन लतांतच्छायायें तज कर,
पानी की आस में कहाँ मैं भूल फँसा हे जगदीश्वर ?

"जिससे पता जन्म और जिसमें रहता, यह, लीन जगत
जिसमें लय होता है फिर, जो है परमेश्वर पूतचरित,
जो है आदिमध्यलय हीन, मूल कारण, सर्वव्यापी,
उस आत्मभव ईश की मैं जाता हूँ शरण सदाव्यापी !

"कभी जगों को बाहर कर, फिर कभी मिला कर अपने में,
दोनों बने आप, साक्षी बन सब के, छिप कर अपने में
रहता है जो निष्कलंक, आत्मा का मूल निदान सदा,
उसका मैं चिंतन करता हूँ ! हो ले जो भाग्य में बदा !

"लोकों के, लोक पालकों, लोक वासियों के मिटने पर,
जो अलोक अंधकार फैला रहता, उसके पार, प्रखर
आलोक सा अकेला रहता है भास्वर जो परमेश्वर,
उसका मैं सेवन करता हूँ, कृपा दृष्टि डालें मुझ पर !

"नर्तक सम मूर्तियाँ कई धारण कर जो नाचता सदा,
सुर, मुनि, जिसके संकीर्तन में रह जाते असमर्थ सदा,

१. कई गज-समूहों

गतिविधियाँ जिसकी, अविदित रहती हैं, सदा दूसरों को,
वैसे अप्रमेय का मैं करता हूँ स्तवन छोड़ सब को !

"संग रहित मुनिजन, दिदृक्ष औ' सर्वभूतहित साधुमना,
असदृश-व्रतधारी बन जपते जिसके पदयुग, धीरमना,
जो भवरूप कर्म नाम गुणों के अतीत हो कर भी सब
निजमायावश धरता है, मेरा आधार बने वह अब !

"नाम, रूप, गुण, दोष, जन्म, कर्मादि नहीं रख कर भी जो,
जगदुत्पादन लय के लिए, वह सभी धारण करता हो
अपनी ही माया से, उस अपरिमित शक्ति बहुरूपी को,
रूप रहित-अद्भुत-कर्मा ब्रह्मा, परेश को साक्षी को,

मन वाणी औ' चित्तवृत्तियों की पहुँच के परे जो हो,
उस पवित्र आत्म-प्रदीप को परब्रह्म परमात्मा को,
सत्व गुण प्रधान विद्वान विवेकी निवृत्ति पथ गामी
साधक से हो तुष्ट, प्राप्त होता है जो अंतर्यामी,
निर्वाण के प्रदाता उस अपवर्ग-भव्य-सुख-संविद को
नमस्कार मैं करता हूँ आनंद धाम उस सत्चित् को !

"सत्व रजस्तम गुण अपना कर, शांत घोर औ' मूढ[1] बने,
क्रमशः जो प्रतीत होता हो, निर्विशेष औ' सौम्य बने,
घन को उस ज्ञान के सघन, सर्वेंद्रिय-गुण-गण द्रष्टा को,
सर्वाध्यक्ष तथा क्षेत्रज्ञ, दयासागरमति, स्रष्टा को,

१. गूढ (पाठांतर)

हेतु रूप प्रकृति का, आप अपना ही कारण रूप बने
रहता है जो प्रभु, उसको अर्पित हैं नमन अयुत अपने !

"सत्र प्रतीतियों के कारण, दुःखांतक को नति करता हूँ !
विजितेंद्रियज्ञापक ईश्वर को बारबार नति करता हूँ !
असत्-रूपिणी छाया संग प्रकाशमान है जो ईश्वर,
उसे नमन है, सत्ता बने राजता है जो एकेश्वर !

"जो है सबका कारण, फिर भी रहता कारण-रहित स्वयं
उस अद्भुत-कारण को नति हो ! मेरी रक्षा करे स्वयं !

योगाग्नि में सभी निज कर्म जलाने वाले, योगीश्वर
किसी अन्य का ज्ञान न रख कर, पाते हैं जिस परमेश्वर–
का दर्शन सद्योग-प्रकाशित-हृदयों में अपने छक कर,
उस 'पर' सत्ता को महान् शतशः नति करता हूँ झुक कर !

"सर्वागम-आम्नाय-गणों का, जो है, रत्नाकर सुंदर,
मोक्ष-रूप है जो, उत्तम पुरुषों की गति, आश्रय-मंदिर !
गुणरूपी काष्ठों में निहित ज्ञानमय अग्नि बना है जो,
अपने आप विभासित होने वाला धन्य बना है जो,
गुणगण में हलचल मचने पर, जिसके मन में, जगती हो,
संसृति की रचना करने की बाह्यवृत्ति, इक उगती हो,

विधि-निषेध-मय-कर्म, अकर्म-भावना से, जो, करता है,
प्रभु को उस, यह दीन हीन पशु, नमन हज़ारों करता है !

दिशाहीन, मुझ सम पशुओं के पाप, मेट देता है जो,
सब जीवों के हृदयांतर में, निज जगमग जगता है जो,
उस अच्छिन्न अनूप तत्व को, तनु-सुत-मित्र-गेह-संपत्
दारा-रत लोगों के लिए अलभ्य रूप को गुरु संविद्,
भगवन को, ईश्वर को, शीश नवाता हूँ मुनि-संभावित् !

"धर्म काम अर्थ मोक्ष की चाह लिए, जिसको भजने पर,
मनचाही गति पाते हैं, विबुध ! तनिक संप्रार्थित हो कर,
अविनाशी देह तथा भोग, सदय बन कर जो देता हो,
मुक्त पुरुष जिसको भज कर, आनंद सिंधु में तिरते हों,
भक्त-अनन्य, बने निष्काम, नित्य-प्रति गायन करते हों
जिसके भद्र चरित्र, दिव्य शुभ लीलावर्णन करते हों,
उस अव्यक्त, आद्य, अध्यात्म, महेश, उन्नतात्मा, 'पर' को,
योग-गम्य, परिपूर्ण, पर-ब्रह्मतत्व को, सर्वेश्वर को,
इंद्रिय गणातीत को, जो रहता है, अणुओं में अणु बन,
महतों में अतुलित महान, उसको भजता हूँ नत शिर बन !

"जिस प्रकार, पावक, अर्चियों, तथा रवि अपनी किरणों को
फैलाते हैं, फिर समेट लेते हैं, त्यों नाम गुणों को,
मन इंद्रियों बुद्धि एवं भिन्न-योनि-गत बहु देहों को,
चतुरानन से ले कर, चींटी तक के सभी प्राणियों को,
जो पृथु तेज, मरीचि जाल से अपने, बाहर करता है,
और समय पा कर, सबको वापस फिर भीतर करता है,

जो न पुरुष, न स्त्री, न नपुंसक-मूर्ति रूप हो सकता है।
जड़ तिर्यक् नर अमर गणादि रूप ही, ना रख सकता है।
नाम कर्म गुण भेद सत् असत् द्वंद्व नहीं धर सकता है।
फिर सब आप बने रहता, उसके आगे सिर झुकता है!

"कहते हैं, वह है दीनों का धन, निवलों का गुरु बल है
कहते हैं परमयोगि गण की सब चिंताओं का हल है!
कहते हैं, सब दिशियों, सब कालों में रहता पुष्कल है
पर यह पता नहीं, 'वह है या नहीं!' चित्त शंकाकुल है!

"संपत-दारिद के अतीत प्रभु, नहीं बनेगा मम संपत्
रख संदेह, पूर्णता में मेरी, दूर भगा घोर विपत्?
बाँह न थामेगा मम, बाँह थामने वाला संतों की,
बन जाते जो लक्ष्य क्रूरताओं का, कुटिल असंतों की?

"देखेगा क्या नहीं, दशा मम, नज़रों से न देख कर भी,
लखने वालों को विलोकने वाला, कृपया, हाय! कभी?
लीला में ही नहीं सुनेगा क्या, गुहार मम, छिप कर के
आर्तों की गुहार सुनने वाला वह, तनिक दया करके?

"सब रूपों का मूल रूप, आदि-मध्य-लय-विरहित जो है,
भक्तजनों का भागधेय, दीनों का गुरु संबल जो है,
नहीं सुनेगा क्या वह मेरी करुण पुकार? न देखेगा?
नहीं चित्त में लायेगा क्या मुझे? तुरंत न आयेगा?

"विश्वोत्पादक, विश्वातीत, विश्व-आत्मा को, शाश्वत को,
विश्ववेद्य को, विश्वरूप प्रभु को, अविश्व को, अक्षत को,
जन्म रहित को, चतुरानन ब्रह्म को, तथा प्रभु ईश्वर को,
भजता हूँ मैं, परमपुरुष को 'भूमा' रूप अनश्वर को !"

यों विचार कर, बड़ी देर तक, गजपति तब अपने मन में,
ईश्वर का नैकट्य व वातावरण प्रतिष्ठित कर मन में,
नव विकसित परिमल मकरंद भरा कमल उठा निज कर में,
गिरा सगद्गद-गिरा कठिनता से बोला लख अंबर में !

"शक्ति नहीं जौ भर की रही, धैर्य ढील हुआ, प्राणानिल,
रहे बेठिकाने, मूर्च्छा आई, देह थकी, श्रम आविल !
तेरे बिना नहीं कुछ ज्ञान अन्य का, क्षंतव्य, दीन हूँ !
आ जा ईश्वर, बचा ले वरद ! रक्षा कर भद्र ! हीन हूँ !

"सुनता हूँ, सुनाता है जीवों की वाणी, चलता है फिर,
बड़े अगम स्थानों में तू शरणार्थी की पुकार सुन कर !
देता है उत्तर तुरत वहीं, लखता है सब साक्षी बन,
पर करुणासिंधु ! मुझे इसमें होता है संदेह सघन !

"हे कमलाक्ष ! वरद ! प्रति पक्ष विपक्ष विदूर ! दुहाई है !
हे कवि योगि वंद्य ! सुगुणोत्तम ! मुनिमन हरण ! दुहाई है !
शरणागत जन कल्पभूज ! हे विमल प्रभाव ! दुहाई है !
आ, याद कर, दया कर दे ना इस जंतु पर ! दुहाई है !"

कुररी ज्यों अति करुण पुकार मचाता हुआ गजाधिप यों
सारा भार डाल अपना ईश्वर पर नेत्र-कर्ण दिशियों
तथा गगन पर लगा, बड़ी उत्कंठा औ अनन्यता से
लगा हृदय-वेधक रोदन करने, भर कर लंबी साँसें !

अखिलात्मकता के अभाव में अंबुज-गर्भ आदि सुर सब
आकर्णन करने पर भी, निष्क्रिय रह गये देखते सब !
किंतु विष्णु जिष्णु विश्वमय विभु ने सर्वात्मकता के बल
करना चाहा त्राण भक्त का, प्रेम मूर्ति निर्बल के बल !

उस वैकुंठ पुरी के रनवास में कोणस्थित-सौध-निकट
वर मंदारवनांतरामृत-सरोवर के प्रांत में, प्रकट
चंद्रकांत - उपलोत्पल - पर्यंकस्थित रमा - लोल नटवर
निज विपन्न जन पारिजात, सुन गज की 'त्राहि-त्राहि !' उठ कर

श्री से कहा नहीं, शंख चक्र युग हाथों में लिया नहीं,
परिवार की न की परवाह, स्मरण खगपति का किया नहीं !
ठीक न बाँधे कानों में उलझे चिकुर, हस्ति-रक्षा-रत,
और न छोड़ा कुछ-चेलांचल ही श्री का, विवाद प्रोत्थित[१] !

यों, भक्त जन परायण, निखिल जंतु हृदय सरोज सदायन,
सुन गजपति-विज्ञापित-नानाविध-दीन-वचन, नारायण,
तज कर रमा-सती-विनोद, दस-दिशि विलोक अति संभ्रम में
गजरक्षा-तत्पर बन, नभ-पथ में दौड़ चला विक्रम में !

---

१. प्रेम-विवाद में, हाथ में लिया हुआ, लक्ष्मी जी की साड़ी का आँचल।

पीछे चलीं रमा, उनके पीछे अंतःपुर के परिजन,
पीछे उनके खगपति, कौमोदकी, धनुः शंख सुदर्शन,
नारद ध्वजिनीकांत चले, वैकुंठ नगर के सब जन गण,
वृद्ध वयस्क लिए आबाल-गुपाल चले संभ्रांत सुमन !

मुख–अरविंद – मरंद-बिंदु – संदोह – परिप्यंदन – नंदित
इंदिदिर–मंदिरा इंदिरा गोविंद–करारविंद–गत
कुच चेलांचल से खिंच चलती हुई मार्ग में मन ही मन,
लगी सोचने दुविधा में, प्रभु के गमन-हेतु क्षण प्रति क्षण !

"कहते नहीं पता कुछ, जाने किस दीना पर विपत पड़ी !
या चोर गये चुरा वेद फिर ! दिति-सुत-सेना टूट पड़ी
हो इंद्रपुरी पर ! भक्त जनों को धिक्कार उठे हों, खल–
"चलो दिखा दो, चक्रायुधधारी है कहाँ ! अरे ओ खल !"

अविचल कुण्डल लिए, भुजनटद्धम्मिल्ल-भार[1] से झुक कर,
शाटीमुक्त कुचद्वय, ढीली चंचल कांची ले थक कर,
शीर्ण-ललाटालेप, प्राणपति - कराकृष्ट - उत्तरीय ले,
कोटिचंद्र छवि और उरोज भार से झुकी कमर भी ले–

सरपट बढ़ती हैं आगे, पूछने बात, झट रुक पड़तीं।
'देंगे नहीं जवाब हड़बड़ी में !' सोच यही, मुड़ पड़तीं।
फिर बढ़तीं, मुड़तीं, मुड़ बढ़तीं, बढ़बढ़ कर, मुड़मुड़ पड़तीं,
डगमग पड़ते, डगमग पर, व्रीड़ा जडतावश डग धरतीं !

१. कंधों पर बिखरी विपुल केश-राशि के भार से।

घन-अनुगता लता ज्यों विद्युत्, जलद-वर्ण-विभु के पीछे—
चली जा रही थीं तो, अलिगण झंकृत कर झपटे पीछे,
काली अलकों तथा मुख-सरोज पर मंडलाते उड़ते !
उन्हें हटाया तो, शुक दौड़े, बिंबाधर चखने बढ़ते !

उड़ा शुकों को दिया किसी विध, तो फिर नेत्र-मीन लख कर,
स्पर्द्धावश स्वर्गधुनी-पाठीन गण, उड़ा, जल से कढ़ कर !
मीन-पंक्तियों को लांघ गईं तो, फिर चपलायें झपटीं
देहलता की जोत मात करने झुण्ड के झुण्ड लिपटीं !

मगर गईं सब की सब हार मान, तो, नई बला आयी !
कुचयुग पर चकवे टूटे, निज लाज निभा लेने, मायी !
यों माता, सर्वदा स्वर्गदा 'शशिनासह कौमुदी' सदृश,
प्रभु के पीछे चलीं, सदाशिव के पीछे पार्वती सदृश !

नभ में अमरों ने देखा, रोचिष्णु विष्णु और जिष्णु को,
सुर-शात्रव-जीवन-संपत्ति-निराकरिष्णु को, सहिष्णु को !
करुणावर्द्धिष्णु, भक्त जनवृंद-प्राभवालंकरिष्णु को,
योगिहृदयवर्तिष्णु, नवोढोल्लसदिंदिरानुचरिष्णु को !

"लो, आ गये महाप्रभु हरि ! पार्श्व में माँ रमा हैं देखो !
शंखनाद वह ! चक्र रहा वह ! भुजग-विनाशक वह लेखो !"
यों अमरगण, 'नमो नारायणाय !' इत्यादि सुस्वरों में,
नभ में कर बैठे प्रणाम, सुरभित सुमन लिए स्वकरों में,
हरि को, करि-दुरवस्था हरि को ! डूब हर्ष की लहरों में !

कुंजरेंद्र-रक्षारति में सुधबुध खो, देव-नमस्कृतियाँ
कर अस्वीकृत, हरि, मानस-वेग में चले बढ़ने, श्रुतियाँ
साथ लगीं गाती सुगीत ! जाने पर दूर वहाँ देखा,
घटना-स्थल वह, वीर-रौद्र-अद्‌भुत-करुणा-पूर्ण, विलोका ! —

शिशुमार-चक्रसा, गुरुमकरमीन कुलीरमिथुन वाला,
किन्नरेंद्र-भाण्डागार-सा स्वच्छ-वर-कच्छप-गण वाला,
भागधेय-सा भाग्यवान के राग-सहित-जीवन वाला,
वर विकुंठ धाम-सा शंख-चक्र-कमल-अलंकरण वाला,
घन-संसृति-प्रकार सम, संकुल-द्वंद्व-पंक-परिमल वाला,
अनुपम छवि युत कमलाकर इक क्लांतकलित शोभा वाला !

करुणा-झरी शौरि ने वारिचराधिप-वध करने भेजा
सत्वरिताकंपित - भूमिचक्र, महोद्यद्विस्फुलिंग छटा
परिभूतांबरशुक्र, विविध ब्रह्माण्ड भाण्डच्छटा अंतर
निर्वक्र को, चक्र को पालित-अखिल-अमर-चक्र को, प्रखर !

अंभोजाकर-मध्य - विनूत्न नलिन्यालिंगन - क्रीडारत
प्रभा-सती-पति-विभा[1] बिखेर बढ़ा पानी में, चक्र तुरत !
मचा 'गुभ' 'गुभ' स्वन घन-घोर, पंकजाकर को हिला दिया
दुष्ट वारिचर के ढिंग, सीधे हृदय-वेग से चला गया !

पल में काट शीश, प्राण लिये, हरिचक्र ने निकट जा के
चकितारण्यगजेंद्र-यूथ[2] के, स्वर्ण क्ष्माधर देही के,

---

१. सूर्य की जैसी चमक ! २. जंगली हाथीगण को चक्कर में डालने वाला-मगर।

कामक्रोध-गेही के, वारण-रक्त-स्नात पृथु-देही के,
वीतदाह[१] विजय-रमा-मुग्ध-ग्राह के अमितोत्साही के !

क्षणिक-स्पर्श से यों, चक्र सुदर्शन ने, मस्तक काट लिया
जलग्रह का, तो मकर एक तुरत झपट, रवि में समा गया !
एक अन्य मगर, धनद-पति के पीछे जा छिप बैठ गया !
मकरालय-चर-मकर-यूथ, कूर्म-पति-निलय को चला गया !

तम-विमुक्त-रोहिणी-नाथ-सा, दर्पित हो, भव दुःखों से
छूटे हुए विरागी ज्यों, छूट जल-ग्रह की दाढ़ों से,
पैर हिला, करिणीगण-वल्लभ, सौन्दर्य राशि-सा दमका !
दिक्करिणी-कर-च्युत-सुधा-सलिल में, अवगाहन कर चमका !

फूँका हरि ने पाँचजन्य वर, कृपा-सिंधु-सौजन्य महा !
कटु रव से निजअचलीकृत गुरु-महाभूत-चैतन्य अहा !
सारोदार-श्वेत-आभा-जित-वर-ऐरावत धन्य, सुघर,
दूरीकृत-दीन-जन-दैन्य औ पराभूत-अरि-सैन्य, मुखर !

गरज उठीं निर्जर-दुंदुभियाँ, कमल गंध ले पवन डुले !
फूलों की बौछारें छूटीं, अप्सरियों के लास्य खुले !
सब जीवों के जय-जय-शब्द-वलाहक, दिशियों में घुमड़े !
चूम तरंगों से, नभगंगा के अंभोज सिंधु उमड़े !

लंबी बाँह पसार, सरोवर से बाहर, खींचा गज को,
मद जल रेखाएँ पोंछ लीं, विष्णु ने हाथ छुला, गज को,

---

१. कमज़ोर हाथी को जलाने वाला।

हौले से, मृदुता से बरसा प्यार असीम, थपथपाया !
पृथ्वीनाथ ! दयामय ने दीन का दुःख भूरि भगाया !

दाहकता देह की मिटी तो, हरि-कर के परस से सुखद,
करि करिणियां-समेत, मधुर चिंघाड़ कर उठा, श्रवणसुखद !
प्रभु की करुणा से जीवित प्रियतम को पा कर करिणीगण,
शुण्ड फेर, प्रीति से घेर गूँथ कर, कर बैठा कर-पीडन !

देवल के शाप से छूट, भयकर ग्राह का रूप तज कर,
'हूहू' नामक गंधर्व अनघ, पहले का निज तन धर कर,
कर दण्डवत् सामने हरि अव्यय के, विजय गीत गा कर,
पा आशीश प्रणत-वत्सल के निज लोक में गया शुभ कर !
दरस परस से श्रीहरि के, गज-यूथप, अज्ञान हटा कर,
विष्णु-रूप धारण कर शोभित रहा, ज्ञान ज्योति जुटा कर!

हे जननाथ ! हस्तिपति वह था, पूर्व जनम में, एक नृपति,
'इंद्रद्युम्न' द्रविल देशाधिप, वैष्णव संत अमोघ, सुमति !
महा शैल शिखर पर, कठोर मौन-व्रत धारण कर बैठा,
सर्वात्मक नारायण की पूजा-उपासना में पैठा !

इक दिन जब, अच्युत-ध्यान-समाधि में, भूप वह मगन रहा,
परम तपस्वी घटज गये, उस जगह, किंतु नृप मौन रहा।
घर आये अतिथि का समर्चन, भक्ति सहित उठ,नहीं किया,
क्रुद्ध तपोधन ने शाप दिया— "तुम ने आदर नहीं किया
मेरा रे लुब्ध ! मस्त हाथी बन विचरो खो धरम-दया !"

अपमानित कर मुनि को, पूत-नृपति ने, गज का जन्म लिया।
करिपति बना आप, सेवक गज बने, सभी को साथ लिया।
हरि की चरणकमल सेवा से, भवसागर-संतरण किया।
'अपमान द्विजों का न करे, अनघ भी!' सत्य यह सिद्ध किया!

कर्मनिरत रह कर भी, कमल-नयन का भजन करे, मानव,
दोनों का, नियम-पूर्ण सेवन किया करेगा तो, नव-नव
शक्ति प्राप्त कर, भक्ति विष्णु की, बढ़ती जायेगी पल-पल,
उधर कर्म सारा विनष्ट होगा, कट कर क्रमशः तिल-तिल!

होंगे नष्ट, सभी गज, तुरग रत्न कांचन रथ औ' भू-धन,
होंगे नष्ट, पत्नियाँ, पुत्र, पुत्रियाँ, लोगों के पुर जन!
किंतु गुणी सुजनों की निधियाँ हैं, अव्यय औ' अविनाशी,
विष्णु-भजन-कीर्तन-चिंतन-संस्मरण, निरंतर, भवनाशी!

पा अवकाश भक्त-रक्षण से, परमेश्वर, स्मित-मुख-कमला
कमला को विलोक बोले, वाणी-सस्मित एवं अमला!
"जाने मन में अपने सोच लिया था क्या बाले! तुमने
तव चेलांचल ले दौड़ा मैं नभ में भूल होश अपने!

"मुझे ज्ञात है सब कुछ, कभी नहीं भूल सकूँगा कुछ भी
यद्यपि सारा जग भूले मुझको! जान मर्म यह जब भी
जो जन ध्यान किया करते हैं मम, अनन्यता से, उनका
पल में करता हूँ उद्धार, मिटा सब ताप देह मन का!"

सरल स्निग्ध वाणी प्रभु की सुन, अरविंद-मंदिरा बोली
सुन्दर सान्द्र चन्द्रिकायें हास की बिखेर सुधा-घोली ! —
"प्रभु गोविंद ! सकलपति ! अन्य रहा क्या जो सोचूँ स्वामिन ?
मेरा तो काम है अनुसरण तव-पद-कमलों का भूमन् !

'दीनाधार : दीन जन रक्षक ! देव-देव ! हे देवेश्वर !
दीनों की सुनना गुहार, करना संत्राण दौड़ सत्वर,
व्यथामुक्त उन तुष्ट जनों के आशीर्वाद भव्य पाना
प्रताप के ही परिणाम आपके, दिव्य हव्य पाना !"

यों औचित्यपूर्ण वचनों से प्रेम-सिक्त, मन बहलाया
प्रभु का, उन परम वैष्णवी-रत्न ने, स्नेह में नहलाया ।
हरि ने तब आलिंगन किया प्रीति से उनका मृदु हँस कर ।
सपरिवार सदन को गये निज, अमरों के प्रणाम ले कर !

सुनिये नृप प्रभु का विधान, जो भी इस कृष्ण भाव-भावित
गजपति-मोक्षण-कथा सुनेंगे, होंगे वे न कभी शापित
या तापित, कल्मष दुःस्वप्न दुःख बाधाओं से व्यापित ।
नित प्रातः पढ़ने वाले शुभमति होंगे श्री-संभावित !
पीडायें होंगी प्रशमित, वैभव सारे बरस पड़ेंगे ।
सुख, शोभन, संतोष, मुक्ति, करतल-आमलक बन पड़ेंगे !

फिर बोले परमेश्वर, "अपर-रात्रि में निद्रा से जग कर
जो जन सावधान-मन से करते हैं स्मरण, अन्य तज कर,

मेरे लिये परम प्रिय-कर इस सुधा-सिंधु को अति पावन,
हेमशैल को, श्वेत-द्वीप कुधर-गुहा-वन को मन भावन,

"वेत्र-लता, कीचक वेणु गुल्म सुर-पादप को, निटल-नयन
ब्रह्मा औ' मेरे निवास उन गिरि-शिखरों को मोक्ष-अयन,
कौमोदकी, सुदर्शन, नंदक, पांचजन्य, कौस्तुभ मणि को,
श्री देवी को, वासुकि को, गरुड को, शेष पन्नग-मणि को,

"प्रह्लाद को, देव मुनि नारद आदि पवित्र ऋषि-गणों को,
मत्स्य-कूर्म-वाराह-नृकेसरि-प्रमुख दिव्य अवतारों को,
जन-रक्षण-मंगल-कर उन अवतारों के व्यापारों को,
सूर्य-चंद्र-अनल को, प्रणव को, सत्य तपस्या धर्मों को,

"वेद और वेदांग शास्त्र गण को, गौवों को, विप्रों को,
पर-हित-मति साधु जनों को, पतिप्राणा सती साध्वियों को
हिमकर, कश्यप और धर्म की पत्नी दक्ष-सुताओं को,
गंगा, सरस्वती, कालिंदी और सुनंदा नदियों को,

"अमरों को, अमर-तरु-लताओं को, ऐरावत हाथी को,
अमृत को, ध्रुव को, ब्रह्मर्षि-समूह पवित्र-मनुज-तति को,
अमलिन अंतस्तल में भजते हैं, उनको मैं दे दूँगा,
प्राणोत्क्रमण समय में अपनी निर्मल गति ! दुख हर लूँगा !"

तदनंतर पांचजन्य फूँका। खगपति पर आसीन हुए।
हृषीकेश परिवार समेत विकुंठ-धाम को लौट गये !

सुर-गण हुए प्रहृष्ट ! परीक्षित, मुनियेंगा, वर गजपति का
यह पावन आख्यान, बंध-मोक्षण-वाला, औ' श्रीपति का
नत-जन-वत्सल-भाव पढ़ेगा या सुन लेगा जो कोई,
उसको गज-पति-वरद गज-तुरग-रथ देंगे, हो वह कोई !
यही नहीं, निज परमोन्नत पद कैवल्य प्रदान करेंगे !
करुणा-घन हैं हरि ! भक्तों के सब संकट गहन हरेंगे !

हरिः ॐ तत्सत्

卐

आंध्र भागवत परिमल

वामन चरित्र

आन्ध्र भागवत परिमल

वामन चरित्र

राजा परीक्षित ने पूछा—
"अंभोरुह-नेत्र ने तीन पग माँगे बलि से किस कारण ?
लक्ष्मीपति, निश्चल, पूर्ण काम हो कर स्वयं, गये क्यों, बन-
दीन पराये घर को ? बिना दोष ही पाप-रहित बलि को,
छल से बाँधा क्यों?" कहिए मुनिवर, समाधान हो मन को !

बोले मुनिनंदन, "राजन् ! इंद्र से हार खा, प्राण गँवा,
कुलगुरु भार्गव की करुणा से, बलि ने, फिर से जीवन पा,
उनकी शुश्रूषा की तत्परता से तो, गुरु तुष्ट हुए।
विधिवत् विश्वजित् सवन, उससे, करवा संतुष्ट हुए !

स्वर्ण-वस्त्र से मढ़ा दिव्य-रथ, रवि के अश्वों सम घोड़े,
सिंह-पताका, दिव्य-धनुष, अक्षय तरकस दो बाण भरे,
कवच एक अद्‌भुत, अग्निदेव ने प्रसन्न हो उसे दिये,
दादा प्रह्लाद अनघ ने, ताज़े कमलों के हार दिये।

शंख एक चंद्र-धवल, शुक्र, शिष्य को दे कर तुष्ट हुए।
रथ, कृपाण, तूणीर, धनुष अम्लान हार, कवचाश्व लिए,
कर धिक्कार, विमत-जन-गण का, कनक-मणि-वलय पहन लिये।
फिर प्रसन्न कर विप्रों को, बहुत दान दे, अशीष लिए।

पाँवों पड़ गुरुजन के, देवों को मना लिया, भक्ति सहित।
कर परिक्रमा प्रह्लाद की, झुका सिर, श्रद्धा प्रेम सहित,
चढ़ पवित्र रथ पर, दानवपति, हुए सुशोभित दर्प दिखा,
शैल शिखर पर जलने वाला दावानल ज्यों, तेज दिखा!

साथ लगे सेवा में, उनकी थे, सेनापति दक्ष कई,
मृत्यु तथा यम तक को, डाँट बता सकते थे जो, विजयी!
सिद्ध, साध्य, किन्नर गंधर्व, सुरों का दर्प दलित करके,
दस दिशियाँ, वश में कर बैठे, अतिशय शौर्य दिखा करके!

निकले समराभियान पर यों, सज धज के दानवपति तो,
लगता था, नजरों ही में पी जायेंगे, असीम नभ को!
मचा भूमि दिव में उथल पुथल, निज प्रताप बल से, बढ़ कर,
पहुँचे इंद्रपुरी की सीमा को, यात्रा लंबी तय कर!

देखा उसने, सम्मुख अपने, पुण्य जनों के समूह को,
खान पान, स्वप्न रोग, जरामरण, शोक रहित सुदेश को,
सुम पल्लव परिपक्व फलों से लदे, देव तरु समूह को,
उड़ने वाले झण्डों तथा विमानों के विपुल व्यूह को,

निर्मल गंगा जल वाला, इंद्र का नगर लक्ष्मी वाला,
पल्लव-कलिका-सुम-फल-गुच्छों से नत तरु-युत वनवाला,
वन-सुम-गुच्छों को ढँक, उन्मन गुंजन बहा, पुष्प-रस पी,
ढीठ बने, आपस में लड़ते मदमत्त मधुप गणवाला!,

मधुपों के उछल-कूद का, कर तिरस्कार, नवरसाल की
मीठी शाखों पर टूट, कसैले किसलय, चिकने खा खा,
झूम झूम, झुक मधुर काकली-स्रोत उगलते कोकिल गण,
कोकिल गण का, कर निराकरण, उड़ झुण्ड के झुण्ड नभ पर,
हरी देह लाल चंचु-पुट ले, पके फलों पर टूट, मधुर
बड़े अटपटे बैन बोल, उड़ता शुककुल वाचाल, मुखर,
मुखर-शुककुलों से भी ऊँचा उड़ नभ में, मादाओं को,
लिए साथ, नीडों में कलरव करते कलरव[1] समूह को,
कलरव बहा, प्रियाओं को ले साथ, तेज़ चोंचों से निज,
कमलनाल कोमल खा खा, अल्हड़ खेलों में बने मगन!
हलचल मचा, मधुर कलकल करने वाला कलहंस, सुगण।
हंस-रश्मियों से खिलने वाले, कमलों की, उड़ा हँसी,
लक्ष्मी निलय बने, विकसित, नवनव सुनहले कमल गण की
छवियाँ चारों ओर बिखेर, सुशोभित बहु सरोवरों को!
सरोवरों की नन्हीं बौछारों में, सिँच सिहरते हुए,
घने लता-कुंजों की गलियों में, सुमन बालिकाओं की
मधुर मदिर प्रीति के भार से, झुक-झुक, डगमग डग धरते,
उठते गिरते, आगे बढ़ने वाले अल्हड़ अलस पवन्!

१. पक्षी-विशेष।

पवनाघातों से उड़ नभ में रंग विरंगे पाटंबर,
फैला दिये गये हों, ऐसे शत-मख-धनुषी-कांति सुघर
व्यापित करने वाले विविध लतांत-पराग, परागों के
संसर्ग में प्रवाहित, लघु झरनों की कछार में, श्यामल,
कोमल घास पुंज खा, हिलते दुग्ध-कलश-थन लिए हुए,
उछल कूद करने वाले, निज वत्सों के खेल देख कर,
हर्षोत्फुल्लचित्त से, खूब जुगाली करते, आगे बढ़
लोगों के इच्छानुसार अमृत दुहने वाले पावन
कामधेनुगण, कामधेनुओं को, शीतल छाया दे कर,
याचक लोगों को अतिशय धन बरसाने वाले सुर-तरु,
सुर-तरु पल्लव-मंजरियाँ तोड़, प्रिया कुंजरियों को दे,
स्नेह संपदा का आदर कर, क्रीडा-शैल-सानुओं में,
मंद गामिनी सुंदरियों के गुरुजन बन, विहार करने
वाले मत्त-गजेंद्र, गजेंद्र कुम्भ—संघट्टन से संतत,
बन चिकने औ सुकर सुशोभित, मकराकृति के तोरण स्तंभ,
तोरण स्तंभों के समीप, हो खडी, इक्षु-धनु-धारी[1] के
म्यानों से, बाहर निकले, नव नव करवालों-सी, तीखे,
विद्युल्लतिकाओं-सी, स्थिर, शोभावाली, कर चरण लिये
जगमग करती चंद्रकलाओं की, हावभाव लास्य पिये,
मोहन विद्याओं से अपनी, नेत्रों को शीतल करती,
मर्म भरे व्यापारों से, सब को, अपने वश में करती,
मर कर, दिव्य विमानों पर चढ़ आने वाले, सत्पुरुषों
के आगे जा कर, स्वागत कर निज कोमल बाहुलताओं

१. कामदेव।

में बाँध, लिवा लाने वाली, रंभा तिलोत्तमा जैसी
कुंभस्तनियों के पृथु-कुच-कुंभों के कलकल, कलहंसी
कारंडव, चक्रवाक, सारस-वृंदों का सौन्दर्य लिये,
मधुप-गुंजनों से मुखर-मधुर, इंदीवर अरविंद लिए,
तुंग-तरंगा और अभंगा गंगा, मानो नभपथ में
उमड़ वही हो, उछल पड़ी हो, ऐसी गहरी परिखायें,
परिखाओं के, अमल नभ-धुनी-जल में, डाले गलबहियाँ,
करती खेल कलोल झुण्ड बाँधे, व्योमचर-विलासिनियाँ,
विलासिनी वार-रमणियों के हाथों, समलंकृत पूजित,
देहलियों वाले गोपुरगण के शुभ कवाट, स्वर्ण खचित
कवाट-वेदी पर घटित, रत्नगण-किरणों से संशोभित
इंद्रनील-स्तंभों की गभीरताएँ, गंभीर महाद्‌भुत
विमल-कमल-राग-पालिका-मालाओं वाले, चार दुवार,
द्वारों पर बैठे, यों ही, मन बहलाने को, पहले के
बड़े राक्षसों की बहादुरी, और देवताओं के साथ
उनके संग्रामों की गाथाएँ, आपस में कह सुन कर,
समय बिताने वाले, शास्त्रास्त्रों से सज्जित प्रहरी वीर।
वीर रसां-बुधि के तट सम, उच्च फटिक-सोपानों से सज,
स्वर्ण-रजत-रत्नों की छवि बिखेरने वाले वप्र कई,
वप्रों के ऊपर, हीरे के बने हुए कुड्यों पर स्थित,
चंद्रकिरण सम चमकदार, चंद्र-कांत-रत्नों से निर्मित
सुन्दर साल[1]-शिखर, शिखरों से ऊँचे अति, तोड़े जा कर

---

[1]. सहन

ढुलने वाले तारक, तारकपति-शिला-समूह से कठिन,
चपला पुरलक्ष्मी को, बाँधे रखने को, चतुरानन से
माँगे गये, सुनहले परदों सम फैले उन्नत प्राचीर,
प्राचीरों पर सजग खड़े, निसिदिन गंधर्व चमूगण से
परिवेष्टित पालित, मरकत मणियों के दृढ़ अट्टालकगण,
अट्टालकगण के उत्तुंग वज्रमय स्तंभों के अनुरूप,
उन्नत और शत्रुओं की प्राणापहारिणी शतघ्नियाँ,
शतघ्नियों के छोरों, रथ-चक्रनेमियों का घर्षण ले
गढ़ को भीतर बाहर से ज्योतित करते रविशशिमंडल,
शशिमंडल को समझ स्वच्छ दर्पण, झुकके झाँकते हुए,
घुँघुराली अलक हटा, तिलक सँवारते समय, वदनों पर,
पीछे खड़े दर्पणों में, प्रतिबिंबित-पतियों को लख कर,
पर-वनिता-रत समझ, भ्रांतिवश, रूठ, मना लेने आये
पुरुषों को ले बैठी सतियों का आश्रय बन, गगनोन्नत
शोभा लिए, विराजमान राजभवन, राजभवन-गण के
निकट, मोतियों के हारों से समलंकृत वक्षोजों सम,
चारों ओर तारकागण से घिर, शिखरों पर परिशोभित
सुन्दर स्वर्ण-कलश, सुवर्ण कलशों का शुभ आकार लिए
रहने वाले शयन-जाल, डोलिका, निसेनी से भूषित
अटारियाँ, अटारियों के सुनहले गवाक्षों से निकले
कालागुरु कुंकुम कपूर के धुएँ, धुँओं को मेघ समझ
हर्षित हो, ज्यों पर्व अपूर्व मिला हो, खोल कलाप सुघर
चित्र विचित्र रुचिर वर्णों की छवियाँ फैला, चारों ओर,

कुट-विटपों के निकट 'तधिभिकिट धिमिकिट' करते शुभ नर्तन,
कामशास्त्र–टीकाओं–सी केकाएँ बिखेरने वाले
सुन्दर मोर, मोरपंखों की डोरी लगे रत्न निर्मित–
धनुओं की ध्वनि के भ्रम में द्रुम हिला, दैन्य में दल बाँधे–
नभ में उड़, रवि को ग्रसने बढ़ने वाले राहु की तरह,
दिव में उड़ने वाले झण्डे, झण्डों और छतरियों को
समर कार्य के चिह्न बना, व्याघ्रों से, गज के झुण्डों से,
सिंह और शरभों से, धूमकेतुओं से निर्भीक बने,
निश्शंक हो, न कर परवाह शत्रु की तनिक, झुण्ड बाँधे,
जोर शोर के नारे बहुत लगाते, देवदानवों के
पिछले झगड़ों के वृत्तांत सुनाते, असुरों को फिर से,
विचरण करने वाले सुभट-कदंब, कदंब[1] खड्ग कुंतों
की चमकें, चपला की चमचम-सी, दिशांचलों को ढकतीं
तो, गर्जन-सी पहियों के घर-घर की ध्वनियों को ले कर,
रथिकों के समेत, चलते-फिरते मेघों से, सड़कों पर
बढ़ने वाले रथ के दल, दल बाँध दौड़ में हरिहय को,
सप्त मारुतों को, मन को मात करें, ऐसे बहुरंगी
भव्य तुरंग, रंग श्वेत के मस्तकरिगंडस्थलगण से
निकले मदजल-कण, इंद्र और दिक्पालों के हाथों के
रत्नजटित स्वर्ण कंकणों के घर्षण से छूटे रज से
भरे हुए राजमार्ग, मार्गों के ऊपर आते जाते,
रोहण गिरितट पर विहार करने वाले, अगणित शत-शत

१. एक प्रकार का शस्त्र।

और सहस्रों रुचिर विमान, विमानों पर विहार करते, मुन्दर मिथुन समूहों द्वारा परिचालित वीणा भेरी पणव मृदंग वेणु काहल शंखादिक, कल नर्तन गायन, और काव्यशास्त्र के विशेष, शेष मणियों के जड़े हुए सुघटित श्रृंगाटक[1], कवाट-देहलियों पर रखे दीये, दीयों से जगमग करते, मुन्दर सभाभवन में रखे उज्वल चितारत्न लिए, रत्नाकर के समान गंगा, कोसी नदियों से विश्रुत बन, श्रुति वचन के समान अमल मुन्दर वर्णों से प्रभूत बन, भूतनाथ के कंठ समान नागहार से कांत बने, कांता–कुच सम सवृत्त बन कर, वृत्तों जैसे गुरु लघु अक्षर नियम लिए, अतीव अभिराम, रामचंद्र के तेज सदृश, खर दूषणादि निशचरगण से अनुलब्ध बने, लब्धवर्ण के चरित समान विमल अंतः स्थल सम बन द्योतमान, मानी के चरित्र से सत्पथ का अवलंबन कर सुन्दर, सुन्दर उपवन-सा कदली, चंपक, घन अशोक, पुन्नाग लिए, पुन्नाग समान सुरभि संकुल, सुमन विशेष लिए, शेषनाग का फण-सा पृथ्वी धारण–करने में अत्यन्त विशारद बन, शारद समय-सा धवल मेघ जाल से बने प्रकाशित, सितेतराजिन दान सदृश सरस तिलों से बन उत्तम, उत्तम पुरुष के वचन जैसे करते अमृत रस वर्षा, वर्षा ऋतु के समान शोभित इंद्रगोप से, गोपति की पीठ के समान अति विचक्षण आर्यालंकृत बन, कृत कृत्य बने अमरावती नगर को,

१. चौक

देखा बलि ने। पहुँच समीप, किले को घेर चतुर्दिक् से
रोक लिए मार्ग सभी, बाहर जाने के, अमरपुरी के!

इंद्रपुरी की सुंदर प्रमदायें, जीवन में,
जोबन की ज्योति, हँसी खेल में नहीं खोती!
काल के प्रभाव से, न बूढ़ी ही हैं होती!
दुष्ट जनों की छाया के निकट नहीं जातीं!
पुण्य जनों का संग, न, पल भर ही को खोतीं।

उस अवसर पर, दानव सेना के शंखनाद
अति भीकर फैले तो, अमर नारियों के दिल
दहल उठे, गर्भ फटे, भीतर के शिशु समूह
हा हा खा कर, बैठे करुण स्वरों में कराह।

बलिराक्षस के धावे की बातें, सारी सुन,
बलभेदी चिंतित हो, दुर्ग की सुरक्षा के
कर के सारे प्रबंध, देवों को देव-पुरी
हित को, एकत्रित कर बोल उठे उनसे यों—

"प्रलयानल के समान, बलि हम पर टूट पड़ा!
पापी असुरों को ले बाजों से, छूट पड़ा!
पहले हम से पिट कर, अब लो, फिर चढ़ आया!
कौनसी तपस्या कर, यह इतना बढ़ पाया?

"कौन बना इसका बल? कैसे जीतें इसको?
इस दुर्मद से, मोर्चा, कौन, ले सके? यह तो

लगता है, नभ को खा लेगा ! अमराचल से
बढ़ कर निगलेगा नगरी को, कालांतक-सा !
सामने चलें तो, ब्रह्मा को मात करेगा !

"कैसे क्या करें ? राजपाट छोड दें कैसे ?
रण करने जावें तो लौटेंगे ही कैसे ?
मर कैसे जावें ? गुरुदेव हमें बतला दो,
भगवन् देव पुरोहित ! हमें मार्ग दिखला दो !
ऐसा दुर्दिन, पहले कभी नहीं दिखा हमें !"

सुर-वल्लभ की ऐसी कातर वाणी सुन कर,
सुराचार्य बोले—"सुनियेगा देवेन्द्र, इसे
ब्रह्मवादियों ने भृगु जैसे, दी है इतनी
प्रबल संपदा ? सम्मुख हो कर इसके, कोई
ठहर न सकता, हरि ईश्वर को तज कर भाई !
तुम या तुम्हारे जैसे बली तथा तुम से
बढ़े चढ़े वीर भी, न जीत सकेंगे इसको !

"अब केवल एक ही उपाय शेष है, सुन लें,
राज भोग से हो संतुष्ट अमरपुर छोड़ें।
जाना अन्यत्र कहीं श्रेयस्कर है, पीछे
होगा जब वैरी दल दुर्बल, अवसर लख के,
आ जाना लौट स्वर्ग को, होगा तव अति शुभ।

"ब्राह्मण-बल ही से, यह, इतना वर्द्धिष्णु बना।
आगे, उस बल का कर तिरस्कार, यह दुर्मद
तेज सभी खो बैठेगा निज, इसका तब तक
नाम ही न लें! मेरा यही सुनें निश्चित मत!

"अरि को जीतो या, हो कर समक्ष लड़ लो अथ–
–वा लड़ कर मर जाओ; जब इन में से कोई,
करते ना बने काम, अच्छा है चुपके से
निकल भागना सुरपति!" सुन सुरगुरु की बातें,
सुर गण धर काम-रूप, छोड़ चले अमरावति
गुप्त गहन स्थानों में, ले निज दारा–संतति!

शत्रु-विवर्जित सुरपुर को पा कर असुरराज!
तीनों लोकों को अपने वश में कर बैठा।
भृगु आदि गुरुजनों ने विश्वजयी बलि से तब,
करवाये शत हयमख। उसने फिर कई वर्ष,
पूर्ण काम बन कर के, राज किया, सुखपूर्वक!

असुरेश्वर–शासन में, धरा बनी वसुंधरा,
माँगते न थे याचक, दाता सम्पन्न रहे।
शस्य सभी फलते थे, प्रत्यर्थी एक न था,
देव मन्दिरों में मेले लगते प्रतिदिन थे।
पूर्णकाम बने विप्र! वर्षा होती थी ऋतु–
पा कर; सर्वत्र हर्ष की तरंग उमड़ पड़ी!

फिर सुनियेगा राजन् !—सुरमाता अदिति सती,
शत्रु-हस्तगत पा कर, नगरी को पुत्रों की,
निज संतति को, अंतर्हित लख कर तेज गँवा,
शोकाकुल बन, रोती कलपती रही घर में !

तब सहसा एक दिवस, उठ समाधि से कश्यप
ब्रह्मा ने देखी, निज पत्नी की दीन दशा।
पूजा अर्चा कर स्वीकार, प्रेम से आँसू
पोंछ कर सती के, मीठे शब्दों में बोले—

"प्रिये ! विप्र तो हैं सकुशल ! पूजा अर्चनादि
देवकार्य, विधिवत् संपन्न हो रहे हैं क्या ?
पुत्र तुम्हारे, धर्माचरण निरत तो हैं क्या ?
अभ्यागत अतिथि जनों का स्वागत, संभावन,
यथा योग्य करते रहते हैं ना ? याचक गण,
दासों, सुजनों को सप्रेम खिलाते हैं ना ?

"मानिनि ! अन्न हो, तक्र, साग या मधुर जल ही,
यथाशक्ति जो देते नहीं, अतिथि को सादर,
वे हों यदि धनी, समझ लो नितांत हैं निर्धन !
शुभे ! सर्वदेवात्मक विष्णुदेव के मुख हैं
विप्र और वैश्वानर, तृप्त करें यदि उनको,
कमलनयन होंगे संतुष्ट, अनंतर सब जग,
अपने ही आप, पूर्ण तोष प्राप्त कर लेंगे !

"वत्स तुम्हारे, करते तो हैं, आदर, निसिदिन ?
वधुएँ, आदेशों का, करती हैं ना, पालन
प्रतिवाद किये वग़ैर ? घर के सब कामकाज,
बिना किसी बाधा के चलते हैं, क्या विधिवत् ?"

करुणामय पति से, तब, कहा सती ने रो कर,—
"सुन ल दुखड़ा प्रभु, फिर करें जतन कुछ सत्वर,
दिति के सुत, उनके सुत, तोड़ प्रीति का बंधन,
भीम पराक्रम में बढ़, मेरी संतानों को
भगा स्वर्ग से, उस पर कर बैठे दुराक्रमण !

"देवपुरी पर, संप्रति हा ! करते शासन !
प्राणश्वर ! क्या कहूँ, कृपा करके करें त्राण !
सगी बहन हो कर भी, दिति, लड़ती रहती है
मुझ से, निज धूर्त सुतों को न रोक देती है !
प्रत्युत् करती है, अनुमोदन ही उनका, हा !

"रविकर का स्पर्श, जिसे, ज्ञात नहीं, वह कोमल–
तनुयष्टि शचीरानी, भटक रही है दर-दर !
खो कर, तीनों लोकों की प्रभुता, देवराज,
बना निस्सहाय, वनों में है अब, रहा घूम !
लाडले प्रपौत्र पौत्र, कंत जयंतादि, विभो !
शबर बालकों सँग हैं, घूम रहे हाय, प्रभो !

"अमरों की कामधेनु अमरपुरी आज बनी
असुरों की संपति; बलि की इच्छा पूर्ण बनी !

"यज्ञ भाग हर लेता है, मेरे पुत्रों के,
कौर तक नहीं देता, कभी, भूल कर उनको।
हे ब्रह्मन् ! समदर्शी हो, सारी संतति के
पिता, प्रजापति हो तुम, तब क्यों दुष्टों के प्रति,
यह निपट उपेक्षा दर्शाते हो ? खलगण को
देना, क्या दण्ड यथोचित, प्रभु का काम नहीं ?

"सुरगण का, सभ्य, आर्त, विरथ जनों का, कृपया
करना, संत्राण शोक भगा, निशाचर गण को,
दण्डित कर लौटाना, अमरपुरी देवों को,
प्रभु का, क्या संप्रति कर्त्तव्य नहीं ? धर्मात्मन् !
कर के वह जुगत शीघ्र, करुणामृत बरसाओ,
कोख मम भरी रहे। दयाशीतल सरसाओ !"

सुन कातर वाणी, निज पत्नी की, क्षण भर को
रहे मौन, ध्यान मगन, देखते भविष्यत् को !
फिर बोले कोमल वाणी में अदिति से मौनि—
"बाले ! किंचित् सोचो तो, भोली हो कितनी !
पिता कौन, पुत्र कौन, जनिस्थान कहाँ भला !
जन्म क्या ? रही क्या गिनती तनुओं की अमला ?

"परिवार-कुटुंबों की हस्ती ही क्या ? सुन लो,
खेल मात्र है सब, हरि-माया का, यह गुन लो !
प्राकृत देही को, मोहित करने का अच्छा
बंधन है बस ! मन छोटा मत कर लो, अच्छा ?

"फिर भी लो, जुगत बताता हूँ, इक, समयोचित
करुणाघन, भगवन, जगदीश्वर हरि, सर्वात्मक
परात्पर, जनार्दन की सेवा कर लो! उनकी
संगति से प्रेयसि! तव इच्छा पूरी होगी।
हरि सेवा के लिए असाध्य, कौन मुग्ध जग में?"

सुन गृहस्थ की शीतल वाणी, बोली, गृहिणी,
"नारायण का कैसे करूँ मनन, परमधनी?
मंत्र कौन? अनुष्ठान विधि कैसी? आराधन
का सुयोग्य समय कौन? बतला दें करुणाधन!"

तब कश्यप मुनि ने, पत्नी को व्रत दीक्षा दी
समय-मंत्र-विधि-सहित, पयोभक्षण-दीक्षा दी।
उपवास तथा ब्राह्मण-भोजन, दानादिक का
मर्म बताया तो, अदिति ने मास फाल्गुन के
शुक्लपक्ष की प्रथमा से ले कर, बारह दिन,
हरि को सब अर्पित कर, व्रत रक्खा तो आखिर,
परम अगोचर नारायण प्रगट हुए समक्ष
शंख - चक्र गदा लिए सर्व देवसभाध्यक्ष!

पावन झाँकी प्रभु की पाते ही, पतिव्रता
अदिति के अपांगों से, हर्ष - अश्रु - धार बही
वक्षोजों पर अविरल! तन पुलकित हो उट्ठा!
हाथ जोड़ सिर पर, कर अति उत्तम स्तवन, उठी।

श्रीपति का रूपामृत पी कर, न अघाती थी!
पीछे टुक संभल कर, हर्ष–विभोर हो मंद
मंद्र मधुर स्वर में, हरि गुण गा बैठी अनंत!—

"यज्ञेश्वर! अच्युत! विश्वंभर! लोक-स्वरूप!
कर्ण मधुर मंगल नामधर! दीन मनुज रूप!
भक्त विपन्न जन दुःख नाशक! हे तीर्थ-पाद!
विश्वोद्भवस्थितिलय-कर! आनंद स्वरूप! श्रीद!
चिद्विलास-धर! देह, धरा, लक्ष्मी, प्राण, स्वर्ग
वेदज्ञान, वैरिविजय, बंधमुक्ति औ' त्रिवर्ग,
तुम से विमुखी जन को, कैसे हों प्राप्त प्रभो!
प्रणत-पारिजात! सुगुणभूष! परम पुरुष विभो!
वेदरूप! पद्मनेत्र! जनवत्सल! पाहि प्रभो!

"जब से उद्धत राक्षस, अमरों को धमका कर,
छीन स्वर्ग लगे राज करने, तब से, श्रीधर!
नींद उड़ गयी है, इन पलकों को छोड़ हरी,
मातृ-कुक्षि की ज्वाला, शीतल कर दो, नृहरी!"

सुनते ही, सुरमाता की दीन पुकार करुण,
आश्रित-जन-सुर-तरु ने मुसका कर कहे वचन—
"शुभे! नहीं करो शोक! धर निज तेज स्वरूप
गर्भ से तुम्हारे, मैं, अर्भक बन जनमूँगा!
पुत्र और पुत्र-वधू-गण, पतिदेव तुम्हारे,
और तुम, बनेंगे गत शोक, परम आनंदित!

"निसिचरगण रोएगा ! बात मान लो निश्चिन्त !
सुत बन कर, तुम्हारे, आँगन में खेल कूद
करने को ललच ललक उठता हूँ, मैं सदैव !
रण में, दैत्यों का वध, नहीं हो सकेगा, अब ।
रहा विनय का विधान शेष, बनो मत विचलित ।

"मैं प्रसन्न हूँ, निष्ठा भक्ति से, तुम्हारी ! बलि
का हूँ मैं द्वेषी, अब शीघ्र ही, असुर गण का
राज्य सभी छीन, इंद्र को दे दूँगा, देखो !
सुरगण को, पौलोमी को, प्रहृष्ट कर दूँगा !

"दु:ख का समय बीता, सुखी रहो अब सुभगे !
धर मेरा रूप हृदय में, निज पति की कर लो
सेवा शुश्रूषा, तुम्हारे गर्भाश्रय में
कर प्रवेश लूँगा, फिर लाड़ प्यार से मेरा—
लालन-पालन, करुणा भाव से करो माता !

"देवों से स्वरग पर, कराऊँगा, शासन फिर,
इंद्र-सती को महदैश्वर्य में, झुला दूँगा !
दानव कुल को, मटियामेट, मैं करा दूँगा !
शत्रु-पत्नियों के सौभाग्य को लुटा दूँगा !"

इस प्रकार पुरुषोत्तम, भक्तों के पारिजात
अदिति सती को कर, आश्वस्त हुए अंतर्हित ।

धीरज धर, सुरमाता, समाधिस्थ निजपति की
सेवा करती रही, प्रतीक्षा में अवसर की।

उठ समाधि से, कश्यप ब्रह्मा, इक शुभ दिन को,
धारण कर, अच्युत का अंश, हृदय में पावन,
अदिति में, अनल्प तेज अपना, निक्षिप्त किया।
वायु, भरे, अग्नि शिखा को ज्यों काष्ठ में, अहा!
कश्यप का, चिरसंचित तपोवीर्य धारण कर,
सुरमाता मन में रह गयी हर्ष धारण कर!

द्रव बन, फिर बन के मृदु, गाढा बन कर क्रमशः,
एक मास के, जाते, बीत, कंठनाल-सहित
गर्भ-पिण्ड बना, ठोस, गुर्वी सुरमाता का!
मास, एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः करके,
ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते थे, तो शत्रुक्षय के
मास भी उसी क्रम में, पास-पास आते थे!
घन मण्डल से ढँक कर, घन प्रकाश निज खो कर,
चण्डकिरण-बिंब यथा गुप्त सुप्त रहता है,
उसी तरह कश्यप-गृहिणी के गर्भाशय में
कपटी-शिशु सर्वांग लिए विहार करता है!

सारे ब्रह्माण्डों को, कोने में किसी एक,
निज विराट उदर के, लिए रहने वाला वह

वृद्ध विलक्षण, शिशु बन, अनिमिष-जनयित्री के
सिमट सिकुड़, गर्भ में, रहा केलीरत होके ! ॥

तब उस सन्नारी ने, गर्भभार- वश दुर्भर,
रक्खा, निज पलकों पर छवि को, नैनों में शुभ
श्वेत कांति को, चूचुक-युग में कालेपन को,
कांची में दृढता को, मुख पर पीलेपन को
स्तन-युग में कठोरता, जघनों में विशालता
कटि में व्यापकता को, आत्मा में लघिमा को
तन में अतिशय महिमा को, दैवी आभा को !

आश्रम की सुहागिनें, अमरों की जननी के,
रखती हैं माथे पर, रक्षा के लिए तिलक,
मलती हैं, तन पर, अभिमंत्रित शुभ श्वेत भस्म,
पहनाती हैं, पाटम्बर की जोड़ी, छवि मय,
कहीं दीठ लगे नहीं किन्हीं क्रूर ग्रहों की,
रक्षा बंधन करती हैं, रमणी गर्भ को !

विश्व-गर्भ प्रभु शिशु बन गर्भ-विवर में, दिन-दिन
पा कर पूर्णत्व, लगे बढ़ने तो, गुर्वी वह,
देव पिता की रमणी, धीरे-धीरे संकट
प्रसव का लगी पाने ; बैठी सूती-गृह में !

तब सुनियेगा राजन् चतुरानन ब्रह्मा ने
सौर में प्रवेश किया, जोड़ हाथ निज दोनों,

अदिति-गर्भ में, विराजमान, परम-पुरुष का
वेदविहित शब्दों में, स्तवन किया भवहर का !

"त्रिजगों में व्याप्त कीर्ति का आश्रय ! पृश्निगर्भ !
देव ! उरुक्रम ! तुम को, हो, शत-शत नमस्कार !
त्रिगुणों के स्वामिन् ! पृथुलात्म-रूप ! अग जग के
आदिमध्यलय-कारक, तुम को हो नमस्कार !

"हे त्रिनेत्र ! हे त्रिपृष्ठ ! ब्रह्मन् शिपिविष्ट ! प्रभो
स्थावर-जंगमकारक ! तुम को शत नमस्कार !
तुम ही, हो कर, विशाल काल, सभी को आत्मा
में धारण करते हो, औ, बहा लिये जाते
जैसे सोता तिनकों को बहा लिए जावे !

"प्रजापति गणों के, हो, उद्गम तुम्हीं, दिव खो
शोक सिंधु में डूबे, सुरगण की नैया हो !
आओ प्रभु ! अदिति गर्भ से तुरंत निकल पड़ो,
खो स्वतंत्रता, सुर चिरकाल से प्रतीक्षा में,
पलक पाँवड़े फैलाये हैं, उनका सत्वर,
धैर्य बँधाओ, प्रसन्न करो, भूरि नमस्कार !"

कमल-गर्भ, इस प्रकार, स्तवन कर रहे थे, तो
श्रवण-द्वादशी के दिन, श्रोण मास में, राजन् !
रवि जब, मध्याह्न समय में, जगमग करता था
ग्रह औ नक्षत्र, भद्र-स्थानों में पहुँचे थे,

अभिजित् नामक, उस शुभ लग्न में, बने बौना
दिविजाधीश्वर-माता, पुण्य मती, पूतव्रता
परमपतिरता, ख्याता, अदिति-गर्भ से प्रभुवर
भुवनाधीश्वर, हरि, माधव ने शुभ जन्म लिया !
अमरों के ज्योतिर्मय भविष्य को प्रकट किया !

शंख, चक्र, गदा, कमल लिये, चार हाथों में,
पीत वसन धारण कर, शुद्ध नील वर्ण लिये,
मकर कुण्डलों से शोभित, सुन्दर गण्ड लिये,
नलिन विशाल-विलोचन, लांछन-श्रीवत्स लिये
हाथों में कंगन, भुजबंध भुजाओं में, सिर
पर किरीट, कटि में कांची, नूपुर चरणों में,
रस लोभी मधुप समूहों से घिरकर, संतत,
सहज ही विराजमान वनमाला, ग्रीवा में
कौस्तुभ मणि लिए, सकल लोक मनोहारी बन
भगवन अवतीर्ण हुए ! उस अवसर पर शोभन,
यक्ष, तार्क्ष्य, सिद्ध, उरग, चिंता से मुक्त हुए।
चारण, मुनि, साध्य, ब्रह्म, विद्याधर तुष्ट हुए !

नभ पथ में भानु चन्द्र नयी ज्योति से चमके,
झांझ, मँजीरे, वेणु मृदंग बजाते गाते
किन्नर गंधर्व किंपुरुष, दिव में दौड़ पड़े !
कालिमा दिशाओं की, दूर हुई, निर्मलता
सप्त सागरों की, बढ़ गई, हर्ष-कंटकिता

बनी धरा, तारापथ में क्रमशः, भूसुर-सुर
धीरे-धीरे करने लगे, हर्ष में विचरण!
सुमन वृष्टियाँ कर दीं, सुरगण ने सुरभित नव,
सुम मरंद के सीकर, छूट पड़े, सुम पराग
के कीचड़ से धरणीतल विराजमान हुआ!

तदनंतर, अदिति सती, उस अद्भुत बालक को,
देख चकित हो मन में, रही सोचती—'ओ हो!
कैसे यह परम पुरुष, इतने दिन गुप्त रहा,
मेरे लघु उदर में?' महर्षि ब्रह्म कश्यप भी
करताल बजा, "जय! जय! जय!" कर उठ्ठे प्रभु के,
दोनों कर जोड़े, आनन्द सिंधु में डूबे!

तब हरि ने, अपना वह दिव्य रूप, छिपा लिया
गहनों हथियारों से, जगमग करता भास्वर!
कर स्वीकृत, रूपांतर, कपटी 'वटु' का, वामन
ठिगने से, बय के उपनयन योग्य, माता के
सम्मुख, बालोचित क्रीड़ायें, मीठी बातें
करने लग गया; देख सुत की वह लीलाएँ
कश्यप गृहिणी वात्सल्य में डूब कर बोली!

"आ जा प्यारे! माँ के नयनों के तारे!
राजा बेटे मेरे! शुभ तपः फल हमारे!
मेरे छोटे वटु! कुल की ज्योति, ऋद्धि, सिद्धि, दैव!
आ जा प्यारे भैय्या! नाचो टुक 'ताथैय्या!"

सुन, माँ की स्नेह शिथिल वाणी, गदगद विह्वल,
तीन लोक के ठाकुर, ठुमक ठुमक नाच उठे !
तनक तनक हाथों, तालियाँ बजा थिरक उठे !
"झनक झनक" पाँवों में, वर नूपुर खनक उठे !

देख वह अपूर्व दृश्य, अदिति के स्तनद्वय से
दूध की बही धारा ; दौड़ कर, लिया सुत को
गोदी में उठा ; लगा लिया खूब छाती से !
अलकों से सुन्दर, चन्दा-सा मुखड़ा निहार,
चन्दा सम मुखड़े पर, फैली अलकें सँवार,
अघाती न थी, आँखों में छवि भर लेती थी !
मातृ-हृदय की राजन् ! ममता दिखलाती थी !

सुरमाता सूतिका बनी तो, सूतक-गृह में,
सुर महर्षियों की साध्वी सतियाँ, जा बोलीं
"इस पूता माता की, कौन कर सके, समता,
कामदेव की जननी, कार्तिकेय की माता
इंदिरा तथा दुर्गा को छोड़, त्रिलोकों में ?"

फिर, सब ने मिल कर, सौरी में, सुर जननी की,
दस दिन तक, सेवा शुश्रूषायें, सादर कीं ।
तब, कश्यप ब्रह्मा को, कर के आगे ऋषिगण,
जात-कर्म, नामकरण, उपनयन करा बैठे ।

अद्भुत बालक को उस, सविता ही ने आ कर
गायत्री की दीक्षा दी ! देव पुरोहित ने,
पहनाया ब्रह्मसूत्र, कश्यप प्रजापति ने,
मेखला समर्पित की, और स्वयं अदिती ने
कटिवस्त्र तथा भास्वर कौपीन दिये सुत को !

पृथिवी ने कृष्णाजिन, सोम ने वनस्पति का
दण्ड दिया, गगन देवता ने छतरी दे दी !
ब्रह्मा ने कमण्डलू, वाणी ने अक्षमाल
सातों ऋषियों ने कुश के बने 'पवित्र' दिये !

इस प्रकार हे राजन् ! अद्भुत वटु ने विधिवत्
उपनयनादिक सुकर्म किये, पूर्ण, श्रद्धायुत !
घिर ऋषिमुनियों से, करते, मंत्रोच्चार भव्य,
वृद्धाचारानुसार, शिखि में छोड़े, सु-हव्य !

बन निवृत्त, कर्मकाण्ड से वैदिक, मायावी
वटु वामन बोले, हँस, ब्राह्मण गण से—"भाई !
जाते हैं, भूसुर, क्या माँगने अभीष्ट उचित ?
देते हैं, दानी क्या, संपत सादर समुचित !
इष्ट, पूर्ण आप जनों के, क्या करते हैं, सब ?
दानवीर का, ऐसे, परिचय दें, मुझको अब !

सुन वामन की बातें, बोले यों सब ब्राह्मण,
"हैं दानी बहुत, दान देते भी हैं, जन धन ।

होते संतुष्ट, विप्र, पा सब कुछ मन चाहा !
पर वैभव संपत में, दान-शीलता-गुण में
बलि जैसा राजा, अन्य नहीं पृथिवी भर में।

"गुरु, अपने, भार्गव की स्निग्ध छत्र-छाया में,
पाप रहित, महामहिम बलि ने, शत याग किये !
हे वामन, सुनिये ! उस दाता के द्वार खड़े,
सब कुछ पाया जा सकता है, धन कोश बड़े !"

सुन ब्राह्मण-वचन, जगत का करने कल्याण,
देख शुभ घड़ी, भिक्षा को निकले, वटु वामन।
ले कर आशीष, देव पितरों का, लाभपूर्ण,
तेज-रहित दीन, देवराज की सुरक्षा को,
वामन, राजीव-नयन, श्रीपति, शुभ कमलानन,
हीन भिखारी, बन, वटु, गये दनुजपति द्वारे।
परहितमतिवाले प्रभु होते हैं, जगभूषण !
परहितार्थ भिक्षाटन हैं उनके वरभूषण !

सर्व जगत का गुरुतर भार, उठाने वाले,
सर्वेश्वर निकले तो, उर्वी धँस चली ! डुले
उरगराज भी, असह्य बोझ से शिथिल होके !
चल कर इस भाँति, दूर, पहुँचे, वर वारि-तीर
शर्मदा, पवित्र नर्मदा, यमदण्डाघात - सु–
वर्मदा, कठोर मुक्तिकांताचेतो - रहस्य

मर्मदा, वरांबु - निवारित - सत्वर - सकल - दुरित
दुर्मदा, सदानीरा, धर्म-कर्म-फलदा के !

पार कर नदी-प्रवाह, पहुँचे, उत्तर तट को।
देखा, वामन तेजस्वी ने, तब सम्मुख हो
राक्षस गण का कलकल-नाद-कलित यज्ञ-देश !
बरबस धमका कर, लाये गये, मुनीन्द्र देव
सिद्ध गणों के, सस्वर-वेदमंत्र का सुघोष !
वेदण्ड, तुरंग, ध्वजाओं से, रंग विरंगी
शोभित, मंगल वाद्यों से मुखरित द्वार-देश !
होम-धूम के अगणित मेघों से आच्छादित,
हरिदश्व-स्यंदन-तुरगों वाला गगन देश !

बलि के, उस, अश्वमेध यज्ञ भवन में विशाल,
कर प्रवेश, वटु चलने लगे तो, सदस्य जाल
चक्कर में पड़ गया—"अरे, आया कौन देव,
धर कर, ठिगने वटु का वेष, मनोहर, सुदेव ?

"हो न हो, अवश्य शर्व, या रथांगधर ब्रह्मा,
अथवा मार्तण्ड, या कि अग्निदेव ही निकला
है, धरणीसुर का धर रूप, तेजपूर्ण कला !
वरना पृथ्वी में, ऐसा तेजस्वी ब्राह्मण,
कहाँ मिलेगा ?" कहने लगे, मंद स्वर में जन !
कुछ तो हक्का-बक्का, देखते रहे, कुछ जन
"धन्य-धन्य !" कह उठे ! सभास्थल के प्राणी सब,
देख आगमन बौने वटु का, चौंक पड़े सब !

तब सुनियेगा राजन् ! बलि की मखशाला में,
उद्‌गाताओं के, सस्वर सुमधुर सामगान
रहे, श्रवण करते कुछ समय, ब्रह्मचारी वह !
मंत्र तंत्र के रहस्य, अर्थ भाव समझाने
वाले, विद्वान् यायजूकों से, बातें कीं।
होम-वेदियों में, त्रेताग्नियाँ जलाने
वाले याजकगण को लख, हुये तुष्ट मन ही मन !
बहुविध यज्ञों के विवरण देने वाले, अति
दक्ष पण्डितों के संसर्ग में रहे, कुछ क्षण !

लिए चित्त में, अनल्प भिक्षा की चाह, अदिति
संतति, आश्रय लक्ष्मी का, जन्मातीत-तत्व,
बने ब्रह्मचारी, बौना, करते रहे सैर,
यों कतपय क्षण उस मख-शाला की, अति शोभन !

डरे से, थके से, झुक कुछ क्षण, फिर सीधे बन,
"हरि ! हरि !" कहते घुस जाते, लोगों में, क्षण-क्षण,
अलग-अलग भाव दिखाते, मुख पर अति विचित्र,
चर्चा करते, कुछ लोगों से, कुछ से विवाद
करते, घन जटा पाठ, कुछ से मिल ! औरों से
गोष्ठियाँ चलाते, कुछ से करते, हँसी खेल !
करते यों सल्लाप रहे सबसे वटु वामन !

बहुरूप दिखाते, बहुरूपिया विनोदी, यों
तनिक-तनिक पाँवों से, ठुमक-ठुमक चलते थे,

डगमग धरते जाते डग मग में तो, धरती
डगमग-डगमग डाँवाडोल, धँसी जाती थी !
अटक-अटक कर अटपट बानी कहते, आगे
बढ़े चले; औ पहुँचे दानी बलि के आगे !

जा कर सन्निकट, मंद स्वर में, मायाभिक्षुक
बोले, रक्षोवल्लभ को देख, प्रशस्ति वाक्य !
"अहा ! यही क्या दानवलोक-चक्रवर्ती हैं ?
इंद्राग्नि—यमादि—दिगीश्वर—गर्व—निवर्ती हैं ?
लोभरहित, बहुमखदानव्रतानुवर्ती हैं ?
निर्जर - रमणी - मानस - कमल - निमीलक, उद्धत
चंद्रातपकीर्ती हैं ? सत्य धर्म करुणा
शौचादि उत्तमोतम गुणगण का आश्रय
अनुपम सकल पुण्यवर्ती हैं ?

ले, फिर, दक्षिण कर में, मंत्रपूत कुश—अक्षत
कहा—'स्वस्ति ! जगत्रितय भुवन गणाधीश्वर को !
हासमात्र - विध्वस्त - निर्लिप - गणाधीश्वर को !
मुनिकृत मंगलमखविध्वंसक असुरेश्वर को !
निर्जरी-गल-न्यस्त सुवर्ण-सूत्र[१] हर्ता को,
दानव लोकाधीश्वर को, सुर-यश-हर्ता को !
स्वस्ति सदा स्वस्ति स्वस्ति स्वस्ति ! भूरि स्वस्ति! स्वस्ति! !

१. सौभाग्य की निशानी मंगल-सूत्र

कर आशीर्वाद, खड़े हो गये, कमंडलु ले,
वेद-राशि ही हों, वटु मानों कर चरण धरे !
अकुटिल और जटिल मूर्ति, दण्ड छत्र धर कक्ष-वि
लंबित भिक्षापात्र लिए, मायावादन नट,
अमृत किरणमंडल सम, मुखमंडल संशोभित,
सकल कलापटु, उस कैतववटु को, पा सम्मुख,
भृगुगण, रवि के समक्ष ग्रहतारा गण ज्यों, नि—
स्तेज हुए, फिर उठ सादर कुशल प्रश्न किये
मधुर-मधुर वचनों में ! बहु आशीर्वाद दिये !

दाता बलि ने, प्रणाम कर, उत्तम आसन पर
बैठाया भक्त-सहित; स्वर्ण-घटों में उन की
पत्नी लायी जल तो, धोये वर पूत चरण
वामन के, और लिये पोंछ स्वच्छ अंबर से !

सुनिये नृप ! परम भाग्यशाली बलि ने, वह जल,
जिसको गिरिजापति अर्द्धेंदु-जटा-धारी हर,
देवदेव सिर पर धरते हैं, निज मस्तक पर
छिड़काया 'धन्य भाग मेरे !' कह कर सादर !

फिर अभ्यागत से, यजमान, जोड़ कर, बोले।
मन में, श्रद्धा भक्ति विनम्र भाव, शुचि, डोले।—
"वटु, तुम हो कौन ? पुत्र किसके हो ? वास कहाँ ?
हुए, जन्म और वंश मम, पावन आज यहाँ,

शुभागमन से तुम्हारे; मैं अति धन्य हुआ !
दीर्घ समय से चलने वाला मख पूर्ण हुआ !
इच्छायें मेरी, सब, आज परिसमाप्त हुई !
वह्नियाँ पवित्र यज्ञ की, सारी,
समय शिवंकर, मंगलमय, प्राप्त हुआ, मुझको,
मांगो ब्राह्मण-सत्तम, वांछित हो जो, तुमको !

"वस्त्र मूल्यवान, धन, कि फल अथवा वस्तु-वन्य ?
गौएँ, घोड़े या फिर रथ, रत्न विशिष्ट, अन्न ?
कन्यायें सुंदर, घर, कांचन, हाथी, जनपद ?
या कि खेत उर्वर, भूखंड या सभी कुछ ? वद !"

धर्म सहित वचन, विरोचन सुत के, सुन वामन,
बोले, सर्वेश्वर, बातें सार्थक प्रमुदित मन !
"क्या दूँ परिचय अपना ? कैसे कह लूँ मेरा
है वासस्थान अमुक ? कारण, रहता हूँ
प्रत्येक स्थान में, फिर भी एक ही प्रदेश में, न
रह पाता हूँ सदैव ! किसका हूँ कैसे
बतला पाऊँगा यह भी ? आप चला जाता हूँ,
अपना जैसा बन कर ! अमुक गमन है मेरा
कैसे कह दूँ यह ही ! तीनों गतियाँ मेरी
अपनी हैं देखूँ तो ! मैं ही मैं लेखूँ तो !

" 'आता है यह अथवा वह मुझ को' यह कहने
की क्या आवश्यकता ? आते हैं सभी मुझे !

एक मात्र मैं हो हूँ ऐसा ! मेरे रक्षक
और नहीं कोई, मैं हूँ सब का संरक्षक !

"एक हूँ ! रहा बांधव, एक भी, नहीं मेरा !
लछमी भी थी पहले साथ; किन्तु वह छलना,
सुजनों के घर बहुधा घुस निवास करती है !

"रहने भी दो यह सब राजन् ! बात तुम्हारी
सच है, सत्कीर्ति-प्रद है, धर्मान्वित पूरी।
वंश प्रतिष्ठा के अनुरूप, सर्वथा, है, तव,
कुल में, तुम्हारे, घनसत्वमूर्ति और दिव्य
करुणा के मूर्तिमान-तत्व ही जनमते हैं !
अन्य नहीं ! रण में अथवा वितरण करने में
भीरु नहीं रहे कभी ! अरि को भिक्षुक को पा
पूर्वज तुम्हारे लौटाते थे तृप्त बना
दोनों हाथों दे कर भूरि दान मनचाहा !

'वीर शिरोमणि थे, प्रपितामह तुम्हारे सब,
उन में भी, श्रेष्ठ रहे, प्रह्लाद महान् धीर,
तारागण बीच चंद्रमा जैसे कर्मवीर !
कीर्ति रश्मियों से परिपूर्ण ! वंश तुम्हारा
वारि राशि जैसा संपन्न है, भरा पूरा !

"तीसरे पितामह तव, हिरण्याक्ष ने, पहले
विश्व विजय करके, ले गदा हाथ में, निकले,

भूतल में, कहीं प्रतिस्पर्द्धी को ना पा कर,
घूमते रहे तो, वाराह रूप, हरि, धर के
कर बैठे उनका संहार ! बात यह सुनके
भाई उनका, हिरण्यकश्यप, अचरज करके,
अपने बल विजय का घमंड किये, कटक लिये
गया दानवांतक हरिमंदिर को, शूल लिये !

"काल के समान बढ़े आने वाले, शूला—
युधधारी को लख, हरि बोले मन में, 'भूला
है यह उद्धत, कर विश्वास बाहुबल ही में !
और काल है, संप्रति, इसके अनुकूल ! हमें
लड़ना सम्मुख हो कर, नीति नहीं, दूर कहीं
भागेंगे तो, पीछे मृत्यु-सा लगेगा ही।'

"कर विचार ऐसा, कालज्ञ विष्णु, निज माया
फैला कर, सूक्ष्म रूप लिए, दनुज की काया
ही में, घुस पड़ा नासिकारंध्रों से हो कर !
प्रत्यक्ष समर से, डर गया, धैर्य सब खो कर !

"अपने ही हृदय में, छिपे बैठे, हरि को दै—
त्येश, विष्णु-लोक में न देख सका; क्रोधी हो
भूमि गगन में, त्रिविष्ट भर में ढूँढ़ा, दिशियों
में देखा, खोजा, भूविवरों में खुद धँस ! यों
सागर, पुर, विपिन, सप्तपातालों की ली थी
खूब परीक्षा, जगती सभी छान डाली थी !

"असफल बन, अपने अन्वेषण में, तब उसने
सोचा—'अरि का अंत हुआ होगा, या उसने
कर ली होगी, अपनी हत्या; वरना कैसे
बच सकता था मुझ से? मरने पर, मैं कैसे
प्रतिहिंसा भाव लिए रहूँ हृदय में अब भी?
मरे हुए से रखना वैर ठीक नहीं कभी!'

"प्रपितामह थे वह, भवदीय, बड़े गुणशाली!
और पिता भी तो थे अद्भुत वितरणशाली!
जिसने निज आयु तक तुरंत दान में दे दी,
पुरुहूतादिक[1] ने जब, दीन, याचना की थी!

"तुम ही, किस बात में, रहे हो कम उन सब से?
त्रिजगों का पालन करते हो, जाने कब से!
भगा, इंद्र आदि सुरों को, बैठे दाता बन,
निज पुरखों सम ही, राक्षस पिशाच त्राता बन।

"और सुनो जी! जिसको राज मिल गया, उसके
जन्म-गेह-धन-संपत त्याज्य हैं, अगर उसके
द्वारा, उत्तम याचक पूजनीय सुजनों के
काम्य पूर्ण ना होंगे, मान्य ब्राह्मण-जनों के!

"उत्तम दाताओं की, जहाँ, प्रशंसा
वहाँ तुम्हारी गणना, सबसे पहले होती!

१. इंद्र वगैरह ने

त्रिभुवनपति कहलाते हो! आज तलक मैंने,
माँगा कुछ कभी नहीं तुम से, तिल तक मैंने।

"मैं हूँ वटु, और अकेला प्राणी, इक दो पग
धरने भर की धरती दो, सोना चाँदी नग,
नहीं चाहता हूँ, बस, उतने ही में अग जग
मय सारा ब्रह्माण्ड पाऊँगा अपने ढिग!
दानवीर दानवेंद्र! तीन पैग दें मुझ को
काम बनेगा पूरा, हर्ष मिलेगा मुझ को!"

"साधु! साधु! विप्रोत्तम!" कह उठे प्रदाता तब।
"सत्यमार्ग की रक्षा करने को, संभवतः
कर बैठे हो, इतनी अल्प माँग स्वभावतः!
पर ब्रह्मन्! ध्यान रखा होता, मेरे पद का!
दानशीलता का, सत्कीर्ति और संपत का!

"माँग लीजिये वटुवर! भूमिखंड दे दूँ क्या?
अथवा लेंगे हाथी? घोड़ों पर मन है क्या?
या युवती-गण को लख कर, रीझ गये हैं क्या?
बालक हैं निरे! माँगने की, यह विधि है क्या?
ऐसे कैसे निकले दान माँगने ब्रह्मन्?
यद्यपि इतने ही हों भाग आपके, लें सुन,
तीन पैग धरती की माँग यह, नितांत अल्प,
देंगे ही कैसे असुरेंद्र आज ब्रह्म-कल्प?"

मेधावी, सुन गृहस्थ की वाणी, अति उदार,
बोले, स्मिति-अंकुर ला मुख पर यों—"हे उदार !
कहाँ ब्रह्मचारि, और कहाँ भूमि, गज, घोड़े,
वामाक्षी-युवतियाँ ? अरे, ये सब हैं, रोड़े !

"नित्य-अग्नि-कार्य कहाँ मेरे ? छतरी, मौंजी,
ब्रह्मसूत्र अथवा दण्ड कमंडलु, ये हैं जी
मेरे उपभोग्य ! मदाकांक्षामित[1] यह ज़मीन
देना ब्रह्माण्ड दिलाना मुझको, पैग तीन !

"और सुनें, लालच को छोड़, विना दुःख किये
लेश भी मिले, उसको लाख समझ तृप्ति लिये
बिना जो मनुष्य रहेगा, वह क्या सुधरेगा ?
सातों द्वीपों में जावें, फिर भी क्या होगा ?

"आशा की रज्जु बड़ी होती लंबी, राजन् !
अंत नहीं रहता उसका, फँसते उसमें जन।
सागर–पर्यंत–व्याप्त पृथिवी का साम्राज्य
पा कर भी, राजा गय वैन्य आदि, बना भोज्य,
रहे बहुत ही अशांत ! अर्थ काम की आशा
काट भी सके अपनी ? देख सके उस आशा
का अनंत अंत भला ? इन तीनों लोकों में
संतोषी पूजनीय है, समस्त लोगों में !

---

१. 'मेरी इच्छा के अनुरूप' या 'मेरी असीम इच्छा जो है।' इसमें श्लेष है !

"संतोषी सदा सुखी, संतोष न करना ही
सांसारिकता का कारण ! मुक्ति सती नाहीं
मिलती संतोष के बिना, मानव को जग में !
जो कुछ मिल जाय, तुष्ट हो उससे, जीवन में
समय बिताने वाले का तेज बढ़ेगा ही,
दिन दिन; परितोष हीनता–हेतु बुझेगा ही
पानी से अनल-सा; प्रकाश नष्ट होगा ही !

"तुम राजा हो, अपूर्व-दाता हो, सोच यही
माँग बैठना सब कुछ, उचित नहीं है मुझ को,
तीन पैग धरती, सनुचित माँगी, वह मुझ को
दे दो बस ! कहो नहीं—'अपर्याप्त वह तुझ को !"

बातें करने वाले, ऐसी, उस बौने को,
जल कलश लिए कर में, भूमिदान करने को
खड़े हो गये, वितरणशाली बलि ! देख शुक्र,
निज - विचार - संरक्षित - दनुज - धरा - राज्य - चक्र,
बोले झट—'सावधान वत्स ! ब्रह्मचारी यह
है ब्राह्मण नाहीं ! सुरकार्य सिद्ध करने, वह
हरि, अव्यय विष्णु, बने कश्यपमुनि पुत्र, अदिति
गर्भ से हुए प्रगट, लिए मन में कपट अहित
आये, यह मर्म नहीं समझे तुम, आकांक्षा
पूरी करने प्रस्तुत हुए ! मान लो शिक्षा

मेरी हित की, इनमें दैत्य जाति पर संकट–
आन पड़ेगा महान ! सुन लो यह तथ्य प्रकट !

"लक्ष्मी, धन, स्थान, तेज, राज्य सभी, तुम को ठग
लेंगे, फिर देंगे देवेश इंद्र को, यह ठग !
तीन पगों में तीनों लोक नाप बैठेंगे !
धर विराट रूप, तुम्हें, बना रंक बैठेंगे !
सारा धन विष्णु को समर्पित कर, दीन बने
कैसे जीवन-यापन कर लोगे हीन बने ?

"एक पैग में, धर लेंगे, धरती यह सारी
एक पैग में, त्रिदिवालय को, यह असुरारी !
दिक् दिगंत नभ को, वश में कर लेंगे, क्षण में,
तब कहाँ चलोगे ? सोचो राजन् टुक मन में !

"हाँ, तुम दे चुके वचन, मुकर नहीं सकते अब,
नरक मिलेगा इससे; फिर भी विद्वज्जन सब
कहते, दान नहीं कहलाता वह दान, जो कि,
दाता का सर्वनाश कर दे; तप, दान या कि
यज्ञ, कर्म का विचार कर ले नर, बने धनी !

"अपनी संपति के, कर पाँच भाग, योग्य धनी,
धर्म, अर्थ, काम, कीर्ति, आश्रित-जन के पीछे,
खर्च करेगा समान रूप से अगर, पीछे
इह पर में, पूर्ण-हर्ष प्राप्त करेगा, इस से !

"अपने का तिरस्कार कर, देना दान, कभी
उचित नहीं हो सकता !' कहते यह सुधी सभी !
तब भी संतोष न हो तो, सुन लो असुरोत्तम !
इस प्रसंग में बह्वृच-गीतार्थ परम उत्तम !

"'हाँ' कर लेने पर, यदि सर्वनाश हो जाता
तो, उसका निराकरण झूठ नहीं कहलाता !
आत्मा है वृक्ष और अनृत है, इसकी जड़
अनृत जड़ के रहते भी, न वह चलेगा सड़ !
आत्म-वृक्ष के फल सुम हैं सत्य; मगर धड़ ही
जब न रहे, तब वह कैसे रह सकता दृढ़ ही !
पेड़ बढ़ेगा ना, जड़ ही के रहते सदैव ?

"घाटा, लघिमा, नाश कराये बिन अपना, जो
नर देता रहता, वह होता नष्ट न सुन लो।
इसके विपरीत, सत्य का दम भर यदि, दोगे
अपना सब धन, तब निज सर्वनाश कर लोगे !

"किंतु जो मनुष्य, सदा सब चीज़ों को, सबको
नहीं दिया करता, अनृत कहता है सबको
वह तो राजन् शव है, चलता फिरता, जीवन
उस पामर का निकृष्ट है, सब के हित भीषण !

"इसमें है एक बात और, स्त्रियों को प्रसन्न
करने के लिए, विवाहादिक में, औ विपन्न

जन के प्राण बचाने में, लज्जा की धन की
रक्षा में, अनृत कह सकने, गौ ब्राह्मण की !
पाप ना लगेगा, इससे तुमको, राक्षसपति !
वंश, राज्य, तेज को बचा लो, अपने, संप्रति !

"बौना यह विश्वंभर है ! यूँही जायेगा
नहीं; त्रिविक्रम बन कर, जग में छा जायेगा !
भला, इसे रोक सकेगा कोई फिर? मेरी
सुन लो कान लगा कर, विना लगाये देरी,
भाट वटु-कुमार को, तुरंत अभी लौटा दो।
दान वान का, ऐसे घातक नाम नहीं लो !"

कुलाचार्य की, ऐसे हित की वाणी सुन कर,
दानवीर, नेत्र निमीलित किये रहे, क्षण भर !
फिर बोले, हाथ जोड़, नम्र यशस्वी दोनों—
"सत्य है महात्मन् ! परिपूर्ण सत्य तव वचनों
में पाया मैंने; पर धर्म गृहस्थ का वही
जिससे यश, काम, अर्थ, वृत्ति हों न बाधित ही।

"एक बार यह कह कर, 'जो माँगो सो दूंगा !'
अर्थलोभवश, अब कैसे कहूँ, 'नहीं दूंगा ?'
कैसे भेजूँ खाली हाथ प्रार्थी को मैं ?
वचन-भंग से बढ़ कर पातक ना जानूँ मैं !

"स्मरण नहीं ब्रह्मन् ? धरती के वे पुरावचन,
बोली जिन्हें, ब्रह्मा से रो कर वह—'भगवन !
कैसे ही पापी हों, घोरतम सुरापी हों,
ढो सकती हूँ सबको, किंतु सत्यघाती को
एक भी, नहीं कर पाऊँगी मैं, वहन अहो !'

"पग पीछे, समर में, हटाये बिन मरने से,
वचनभंग किये बिना, जीवन शुचि धरने से,
मानधनी लोगों को, मान्य विषय क्या होगा ?
मंगलमय जीवन का मूल तत्व क्या होगा ?

"जैसे, हलधर को सुक्षेत्र और बीज मिलें
एक साथ, वैसे, संपत्ति योग्य-पात्र मिलें
युगपत् दाता को, संयोग से अगर, उसके
भाग्य का कहें क्या फिर ? धन्य प्राण धन उसके !

"नहीं रहे, राजा औ राज्य जगत में शतशः ?
नहीं रहे, गर्व से बने अंधे, वे बहुशः ?
कहाँ रहे वे अब ? धन साथ लाद ले पाये ?
नाम तक सभी के उन, जग में क्या रह पाये ?

"भगवन ! शिबि आदि पूत-चरित यशोमानधनी,
परहिताय, देह धरे, जीने वाले सुगुणी,
याचक के काम, पूर्ण करने से, कब चूके ?
अब के जन, यश गाने से उनका, क्या चूके ?

"संतत चलने वाले कठिन यज्ञ, तप, जप की
पहुँच के परे की वह परमशक्ति, अग जग की,
गौरव तज अपना, वह पृथु महान्, बन वामन,
माँग रहा मुझ साधारण से, बन वटु ब्राह्मण !
तब ब्रह्मन् ! रह पायेगा क्या कुछ भी अदेय ?
लौकिक धन अप्रमेय से उन, हैं नहीं हेय ?

"श्रीरमा-सती के खोंपा पर, पीछे तन पर,
उत्तरीय पर भुज के, पादाब्जों के ऊपर,
मुकुर से सुचिक्कण गालों पर, वक्षोजों पर,
क्रमशः नव नव गौरव पाने वाला वह कर
आज रह गया नीचे, औ' ऊपर मेरा कर !
भगवन भार्गव ! इससे भी क्या कुछ है शिव कर ?

"राज्य-वाज्य का थोथा पटाटोप शाश्वत है ?
हाड़ माँस मज्जा की काया, क्या अक्षत है ?
निरय हो, निबंध हो, धरा का हो निर्मूलन,
मरण मिले घोर, वंश ही का हो, उन्मूलन !
हो ले जो कुछ होवे; बन आवे, अभ्यागत,
हरि, हर, या नीरजभव, सब का होगा स्वागत !

"सुन लें निश्चय मेरा, सुधीवर्य, लाख कहें,
जिह्वा मम फिर न सकेगी, संकट लाख रहें !
माँगें जितना, उतना बिना हिचक दे दूँ तो
बाँधेंगे ही क्यों हरि ? भक्ति सहित दे दूँ तो ?

"क्या कहते हैं गुरुवर ?" अथवा बाँधेंगे ही
तो पीछे छोड़ेंगे करुणामय-प्रभु वे ही !
यदि बंधन-मुक्त नहीं कर देंगे, तो न करें !
विमल चरित ! जौ भर भी मन मैं चिंता न करें !

"उलट जाय मेरु कुधर, सूख चलें सब सागर,
धरती हो चूर-चूर, तारागण, नभ अपार
बद्ध हो चलें, फिर भी दूँगा ! मैं दे दूँगा !
नन्हें-मुन्ने को इस 'नहीं' नहीं कह दूँगा !

"कैसा अद्‌भुत वटु है ? कहता है, कभी नहीं
गया दूसरे के द्वारे ! भाई बंधु नहीं
रहे ! एक मात्र आप है ! माता और पिता
तक का रह गया पता नहीं, कहीं ! शास्त्र तथा
सब विद्याओं के ध्रुव मूल तत्व का ज्ञाता
पारंगत है ! फिर भी है बौना कहलाता !
ठिगने से इस नन्हे बच्चे का तिरस्कार
करने को, मेरा मन करता, अस्वीकार !"

इस प्रकार सत्यपद - प्रमाण - तत्परता लिये,
वितरण करने का उत्साह, और त्वरा लिये,
नियत सत्यसंघ, दृढमनस्क, विमलयशस्काम
याचकजन-कमलभानु बलि को लख पूर्णकाम,
क्रोधी हो कर शुक्राचार्य शाप दे बैठे !—
"मेरे शासन का तुम अतिक्रमण कर बैठे !

इससे तुम जल्दी ही पदवीच्युत हो जाओ !
अपना धन जन औ' साम्राज्य सभी खो जाओ !"

हो कर गुरुशापतप्त दानवीर दैत्यराज,
अनृत पथ के अभिमुख हुआ नहीं, महाराज !
बंधन आवें कितने ही, संकट-गिरि टूटें,
लक्ष्मी बैठे नाता तोड़, जीव धन छूटें
बात के धनी, और अभिमान धनी, त्याग धनी,
दिया हुआ वचन, कभी लौटा पाते न, गुणी !

उस अवसर पर राजन्, परम सती विंध्यावलि,
दैत्य-लोक-नाथ की सती समस्त सुगुणावलि
चंद्रमुखी मद-मराल-गमना, संकेत जान
पति का, लायी जल, वर हेम-कलश में सुजान
करने प्रक्षालन, पद, याचक वटु के महान् !
कपटी वटु को विलोक, बोले बलि सत्यवान—

"उठिए माणवकोत्तम ! 'नहीं' नहीं किये बिना
देता हूँ तव वांछित वस्तु, देर किये बिना,
तनिक तनिक से प्यारे चरण, इधर धर देना !
धो लूँ इन्हें, विंध्ये ! प्रीति सहित जल देना !"

इतना सुन कर, हरि, जलजांबक ने फैलाया,
बलि दानवपति - कर - द्वय - कृत-जल - प्रक्षालन को,

मौनियोगि – सुमनस्संप्राथित – वर – श्रीद को,
कलित नभ्ररमाभाल – गत – कस्तूरी – शाद[1] को
भव्य – रत्न – नूपुर – मुखरित – नाना – वेद को
सद्योविकसित नलिनामोद[2] शुभद-पाद को !

असुरोत्तम ने धोया, दिविजलोकसमुद्धरण,
निरत श्रीकरण, अखिलनिगमांतसमलंकरण,
नानाभवरोगक्लेश – जनित – दुःख – निराकरण,
जलधारा से निर्मल, भक्ति सहित, विष्णुचरण !

धरणीसुर का दक्षिण चरण प्रथमतः धो कर,
धोया फिर वाम चरण, वह पावन जल ले कर
मार्जन कर बैठा, अपने सिर पर, तदनंतर,
अँचवन कर, गुन कर, तव देशकाल मन्वंतर,
जी भर पूजा कर दोनों हाथों से वटु की
फूल हर्ष में, भूले स्मृति अग जग की घट की !

बोले बलि दानवीर यों दक्षिण कर फैला—
"विप्राय प्रकट – व्रताय भवते
विष्णुस्वरूपाय वेद – प्रमाण्यविदे
त्रिपाद – धरणीम् दास्यामि !
ब्रह्मापण ! ब्रह्मार्पण ! वटुवर हो संतर्पित !"
उच्चस्वर में बोले जग को कर अति विस्मित !

---

१. लक्ष्मी जी के कस्तूरी तिलक से चिह्नित (चरण)
२. ताजा कमल का परिमल बिखेरने वाला (चरण)

उस अवसर पर नरपति ! दान सलिल धारा को,
रोका शुक्र ने, अंगुलि से, कलशधारा को !
हरि ने यह जान लिया, कुशसूचीविद्ध किया
भार्गव के नेत्र को, उसे काना बना दिया !

फिर कमलाधीश्वर ने, अमराऱातिकराक्षत
उज्झित-पूतांवुकण – श्रेणि[1] ग्रहण करने हित,
फैलाया, खंडितत्रिदिवौकस्वामिजिन्मस्त[2] को,
कमलाकर्षणप्रशस्त को, रमाकुचोपास्त को,
प्रविमल लक्ष्मीशातस्तनाग्रतटीविन्यस्त[3] को
शुभ समस्त लक्षण शोभित अपने हस्त को !

ग्रहण किया तब, ऋषिमुनिजन–नियमाधारा को,
वनजाताक्ष[4] ने बलिविवर्जित-जलधारा को
जनितासुरयुवति – नेत्र – संतत – जल – धारा को
दानवराज्यरमा – दनुजेंद्रनिराधारा को !

समझ शुक्र-वचनों को, समझ काल को, देश को,
समझ छद्म–वटु रूपी कमलनाभ परेश को,
समझ बूझ भलीभाँति, अपने भावी नाश को,
समझ पात्र उत्तम, दान दिया चित्प्रकाश को,
राजन् ! बलि-सा दानी, धरती में कौन अहो !

१. देव शत्रु बलि के हाथ से छूटा जल
२. इंद्र शत्रुओं के सर काटने वाला (हाथ)
३. लक्ष्मी जी के वक्ष पर विहार करने वाला (हाथ)
४. कमलनयन (हरि)

बलि कृत वह दान देख, जल, थल, नभ, अनल, अनिल,
दस दिशि संतुष्ट हुए, सभी बने हर्ष शिथिल !
नलिननयन रहे, भूतनायक। सृष्टि में अखिल,
'जय ! जय !' के शब्द गान कर बैठे सब हिल मिल !

"दैत्यनाथ बलि ! सुनियेगा, क्षिति का, प्रेम सहित
देता जो दान, और लेता जो प्रीति सहित,
पापों से छूट सभी, दोनों ही, शत वत्सर
शतमख लोक में, केलि करते तज मद मत्सर !

"इस कारण, और सभी दान भूमिदान सदृश
बन न सकेंगे ! तुमने दिया, दान, यह असदृश !
इससे, इह में पर में, कीर्ति सुकृत पा जाओ,
'यह कैसी अल्प माँग !' सोच, नहीं सकुचाओ !
हमने जो माँगा, यह अर्थ, सत्यसंवर्द्धक,
देना यह, तीन लोक देना है ! यह सार्थक !"

सुन, वटु की ऐसी, अद्‌भुत बातें, वैरोचन[1]
हर्ष भरे मन से बोले हँस—"ये वटु मोहन,
पैदा हो कर ? या उसके पहले सम्मोहन
कहाँ सीख बैठे ये बातें ? कैसा बचपन !
छोटे से जठर में लिये बैठे ये ठिगने
जंतर मंतर जादू टोना जग को ठगने !"

---
१ राजा बलि

तदनंतर, भर मन में, हर्ष तरंगायमान,
दानवीर दे बैठे, वामन को भूमिदान !
ग्रह मुनीन्द्र किन्नर, गंधर्व, सिद्ध, विद्याधर,
पन्नगपति, यक्ष, खेचरादि कुसुम हाथों धर,
बरसाने लगे दैत्यराज पर, प्रशंसा कर !
नभ में सुर–दुंदुभियाँ गरज उठीं घहर घहर !

इस प्रकार भूमिदान,
स्वीकृत कर तब राजन् !
इतना–सा बौना वह
डेढ़ हाथ का बौना !
इतना बन, इतना बढ़
उतना चढ़, नभ पथ पर
घन–मण्डल के ऊपर,
प्रभापुंज को ढकेल
पीछे अपने, शशि का
लंघन कर लाघव से,
ध्रुवपद सर्वोन्नत का
अतिक्रमण कर शर-सा,
महर्लोक पर चढ़, बढ़
सत्यलोक से दूततर,
ब्रह्माण्ड–कटाह फोड़,
सीमाएँ सभी तोड़,

बढ़ता ही चला गया !
चढ़ता ही चला गया !

तदनु, परीक्षित् ! सुन लें—
रवि–बिंब बना पहले
प्रभु का सित योग्य छत्र,
तदनंतर शिरोरत्न,
कर्णफूल, कंठरत्न,
कांचन–केयूर, कांति—
मान भव्य कर कंकण,
कमनीय कटिप्रदेश
पर घंटा–छवि पावन,
ठिगने से बौने का
फिर नूपुर जाल बना !
बना वही सूर्यबिंब
जग में सर्वत्र व्याप्त
ब्रह्मचारि का अद्भुत
पादपीठ प्रभादीप्त !

त्रिगुणात्मक विष्णुदेव,
धर विराट विश्वरूप,
बने त्रिविक्रम तो, भू,
नभ, दिव, दिशि, दिशाछिद्र,

सागर, चल जीव–जंतु
बने एकमात्र आप !

भूमि गोल से कढ़ कर,
भुवर्लोक पर चढ़ कर,
सुवर्लोक से बढ़ कर,
महर्लोक, जनोलोक
तपोलोक, सत्यलोक
सब से बढ़ चढ़ ऊपर
सब के हो, परे, पार,
फैले, नीरंध्र–निबिड
अंतराल में, विशाल
देह लिए, अति कराल !

उस विशाल दिव्यदेह
में, प्रगटी, सृष्टि सभी !
पाताल चरण तल में,
पृथ्वीतल पैरों में,
जंघाओं में महीध्र,
घुटनों में पक्षीगण,
ऊरुद्वय में प्रगटे
इन्द्र सेन मारुत गण !
वस्त्रों में संध्या, गु—
ह्यांग से प्रजापतिगण

जघनों से दनुज
नाभि से नभ, कुक्षि से
सप्त – सागर,
उर से तारागण निकले !

धर्म दिखा, हृदय में,
उरोजों से प्रगटे ऋत
सत्य, चंद्र मन से, चं—
द्रानुजा उरःस्थल से
प्रगटी, ले हाथों में
सद्योविकसित सरसिज !

सामादि समस्त वेद
कंठदेश में प्रकटे,
भुज समूह से देवें—
द्रादि अमरगण निकले !
कानों में दिशियाँ शिर—
में स्वर्ग, शिरोजों में
मेघजाल, नासारंध्रों—
से अनिल गण चले !

नयनों में सूरज,
मुँह में अग्नि, सभी
छंदस्समुदय वाणी में,
रसना में जलपति प्रगटे !

भौंहों में विधि निषेध,
पलकों में दिवारात्र,
मन्यु भाल भाग में,
अधर में लोभ गुण दिखे !

काम स्पर्श में, औ'
जल वीर्य में, अधर्म
पृष्ठभाग में, सुयज्ञ
पादविन्यासों में प्रगटे !
मृत्यु दिखी[१] छाया में,
माया के विविध रूप
हास में, वनस्पतियाँ
रोम जाल में, नदियाँ
नाडी मण्डल में,
नाखूनों में पत्थर
ब्रह्मा प्रगटे बुद्धि में !

प्राणों में ऋषिगण, औ'
स्थावर–जंगम प्राणी
प्रगटे, कोमल श्यामल
वारिद्राभ्र शुभ तनु में !

यह विराट रूप लिए,
भव्य विश्वरूप लिए,

शंख, चक्र, शाङ्र्ग, गदा
खड्ग, दण्ड, पद्म लिए,
अक्षय बाणों की तरकस ले,
मकरांकित कुंडल,
किरीट, हार, कटक,
कंकण, केयूर, भव्य
कौस्तुभ, मणि मेखला,
पटंबर वनमाला ले,
जय–विजय, सुनंद–नंद
आदि परिजनों से घिर,
नेत्रों में, चकाचौंध
जागृत कर, तेजसिंधु
बहा, सकल ब्रह्माण्ड,
मानों निज पृथु विराट
देहांचल का हो परिधान,
विश्व में फैले !

उस अवसर पर राजन् !
एक चरण के नीचे
यह सारा भूमंडल,
लगा, पद्म पर अंकित
कीचड़ के छींटे-सा !
ऊपर के चरण–कमल
पर, शोभित हुआ गगन,

पंकज पर झुके भ्रमर
सा, मरंद रस लोभी !

सभी ऊर्ध्व लोकों को, लांघ चले वामन की
चरण–नखर–चंद्र–चंद्रिकाओं के छविगण की
ज्योति से चला ढँक, सतलोक का सुब्रह्मतेज,
दीपक ज्यों छिप जाये, सम्मुख पा सूर्य तेज !

बाधाओं से, भव की, मुक्त बने, ब्रह्मलोक
में निवास करने वाला पवित्र राजलोक,
मरीची महर्षि आदि, सनक सनंदन जैसे
दिव्य योगिचंद्र, और मूर्तिधरे हों जैसे
मधुर मुखर रहने वाले पुराण तर्क, वेद,
धर्म संहितायें, इतिहास, नियम, शास्त्र-भेद,
गुरुतर ज्ञानाग्निदग्ध–सर्वकर्म वाले जन,
सभी, देख, ऊपर बढ़ आने वाला पावन
सर्वाधिप-विष्णुचरण, भक्ति सहित नमित हुए !
निज हृद्गत निधि को, प्रत्यक्ष देख, स्तिमित हुए !

माधव के, नाभिकमल के समान संशोभित,
चरणकमल को लख, ब्रह्मा ने समझा, सुरभित,
"अहा ! देख पाया, मैंने, निज शुभ जन्मस्थल !"
नर्तन कर, हर्ष मगन, हाथ में कमंडलु-जल
लिए धो लिया उसको, और वही पावन जल,
नभ में, देवनदी कहलाया, बह कर कल-कल
करता, विश्वात्म-विष्णु के यश-सा बन निर्मल !

उस अवसर पर नृपवर ब्रह्म, इंद्र, अग्नि, वरुण
आदि लोकपालक गण और सभी ऋषिमुनि जन,
योग मार्ग से मानस में, ऊहा के बल पर
स्थापित कर, सम्मुख प्रत्यक्ष, चरण वह पा कर
सुमन मालिकाओं से पूजा कर, अर्पित कर
दिव्य गंध, धूप, दीप, नीरांजन, छिड़का कर
रागारुण लाजाक्षत, मधुर फल निवेदित कर,
प्रीति-सहित शंखनाद कर—"हे हरि ! करुणाकर !
प्रभो त्रिविक्रम ! तेरी जय हो ! जय हो ! जय हो !"
कह बैठे, उच्चैस्वर में, तन मन भूल अहो !
विष्णु-विजय का ढिंढोरा पीटा, दिशियों में,
जांबवान वनचरपति ने, सारे देशों में !

सब लोकों में फैले, हरि का वह रूप देख,
सोच सके नहीं ! वहाँ, मन नेत्रों को विलोक,
बिलकुल असमर्थ पहुँचने में, बलि दानवपति
और यज्ञभूमि के समस्त सदस्य, यथामति
स्तवन कर उठे तो, वह करुणासिंधु त्रिविक्रम,
यथापूर्व बौने बन गये, छोड़ स्वपराक्रम !

समझ गये, सत्यसंध बलि के सेनापति सब,
हेति, विप्रचित्ति और प्रहेति आदि राक्षस तब,
कपटी वामन हरि की चाल, क्रोध से पागल
बने, गरज उट्ठे—"जाने पाये यह न निकल

ठिगना ठग, मन में ले घातक संकल्प चला,
छीन मही सारी, शतमख को देने निकला !
बात के धनी, दानवपति दे बैठे, सब कुछ,
उनका कुछ, नहीं, दोष इसमें ! चाहे जो कुछ
हो, इस विप्र को धूर्त, प्राणों से लौट कभी
जाने देंगे नहीं, धरो पकड़ो असुर सभी !"

फिर, असंख्य राक्षस, धर कुंत परशु पट्टिसादि
शस्त्र करों में, झपटे वटु पर धरने, अनादि
प्रभु को दस दिशियों से, भीषण गर्जन करते,
धरती को कर कंपित, सबको तर्जित करते !

देख यह उपद्रव, हरि के पार्षद भी, सुनंद
जय, जयंत, विजय, प्रबल, उद्‌बल, कुमुदाक्ष, नंद
कुमुद, ताक्ष्य, पुष्पदंत, विष्वक्सेन, श्रुतदेव
प्रमुख सात्वतादि, अयुत-हस्ति-बली, विष्णुदेव
के सम्मुख प्रगटे, अपनी सेनाएँ ले कर।
दानव सेना पर झपटे, उनको जम के घर
तुरत भेज देने को, नाना आयुध ले कर !

देख परिस्थिति बोले, बलि, गुरु का शाप सुमिर—
"असुर बंधु प्यारे ! यह नहीं युद्ध का अवसर,
समय हो पड़ा है, प्रतिकूल हमारे, सुन लो,
सर्वभूतपति, पति संपत्ति-विपत का, गुन लो,

है यह वटु ! और वही दैव जब हुआ वायें
हमसे, उसका विरोध, किस भाँति, किया जाये ?

"कुछ दिन पहले, हमको, दिया राज था, इसने ।
और सर्वनाश देवता समूह को, इसने ।
और यही, आज कर रहा है विपरीत, अहो !
ऐसे प्रभु को, हम क्या कहें ? तनिक तुम्हीं कहो !

"यह समझो, अपना है भाग्य यह; नहीं तो, फिर
कई बार, हमसे पिट गये विष्णुसेवक, फिर
आज तुम्हें, पराभूत करने लग जाते क्या ?
छोड़ो चिंता, दिन अपने भी न फिरेंगे क्या ?
जब होगा, दैव फिर, हमारे अनुकूल, तभी,
अरिगण को निर्जित कर लेंगे, यह सुनो सभी !

"राजनीति कहती है, दुर्ग, सचिव, मंत्रौषध
बल अनुपम, शेमुषी लिए रह कर भी, नृप बुध,
साम मार्ग से साधे, समय जान, काम सभी !
रण में, अरि से भिड़ने का, मत लो नाम, अभी !"

अर्थभरी ऐसी, दानव-पति की बातें सुन,
विष्णु-सेवकों से पिट कर भागे असुर विमन,
तुरत रसातल को। तब जान त्रिविक्रम का मन,
गरुड़राज ने बाँधा, गुरु पाशों से वारुण,
बलि को, हयमख के उस, सोमपान के शुभ दिन ।

बद्ध बाहु-चरण लिए, खड़ा हो गया बलि तब
बिना किसी झिझक के, समझ विष्णु कृपा, वह सब !
देख, धैर्य वह अद्‌भुत, 'हा ! हा !' कर बैठे जग,
दसों दिशायें और दिशांत के सभी अग जग !

खो कर भी, सारी संपत्ति, दैन्य भय तज कर,
पहले से भी द्विगुणित तेज त्याग धीरज धर,
सत्य ज्ञान से विराजमान अमुर स्वामी को,
बोले, वैकुंठपति, विलोक, कीर्तिकामी को !

"तीन चरण भूमि दान देने को, बोले तुम,
एक पैग ही में, देखना, नाप बैठे हम
पृथ्वी औ' चंद्र सूर्य तक का सब अंतराल।
दूसरे चरण में ले लिया स्वर्ग, अतिविशाल।

"दो ही चरणों की संपत्ति तुम्हारी, अब तक
मिली हमें। चरण तीसरे को धरती कब तक
दोगे ? है भी क्या कुछ ? सोचो तुम हो प्रतिश्रुत !
'वचनदत्त अर्थ न देने पर,' कहते बहुश्रुत,
'नरक प्राप्त कर लेगा वह दुरात्म-जन !' सच यह।
यदि जाना है स्वीकृत, नरक लोक में, दुस्सह
जाओ कुछ समय के लिए, यदि देना चाहो,
तो दिखलाओ सत्वर स्थान, कहीं मिलता हो
तीसरा चरण धरने के लिए हमें। जानो,
विधि भी ब्रह्मस्व हर न पायेगा ! पहचानो !"

सुन वामन की ऐसी बातों को, वैरोचनि,
वचन–भंग–शंका–विष–शल्याहत मन के धनि,
तनिक भी विषण्ण न बन कर, प्रसन्न वदन लिए
बोले, बालक वटु से प्रौढ़, शीष नमित किये !

"निर्मलात्म–वटु ! सूनृत को तज कर, वाणी यह
मेरी, रह न सकेगी अनृत से घिर दुर्वह !
झूठ नहीं कह सकता ! झूठ है नहीं मुझमें !
प्रतिश्रुत मैं हूँ ! अवश्य दूँगा ! दूँगा क्षण में !

"तीसरे चरण को प्रभु ! अपना सिर दे दूँगा !
है मेरे वश में यह आज तक, वही दूँगा !
रख लो, सिर पर मेरे, तुरत निज तृतीय चरण,
स्थिरता से ब्रह्मन् ! कर लूँ मैं भव-संतरण !

"नरक से न, सर्वनाश से अपनी संपति के,
वंचित होने से, स्वामित्व से, त्रिलोकों के,
न, ही वरुण पाश-बंधनों से, धन-विनाश से
डरता हूँ प्रभु ! जैसे डरता हूँ अनृत से !

"यही नहीं, पितु-माता अग्रज-अनुज, सन्मित्र
गुरुजन देते हैं, यदि दण्ड, तो कहीं अमित्र
कहलाते हैं वे ? अंत में लाभ होगा ही !
हम असुरों को मदांध, प्रभु, अवसर आते ही,
ज्ञान-नेत्र देते आये हो, इससे तुम ही
गुरुओं के गुरु हो, उत्तम, बिलकुल सत्य यही !

करुणा धन ! तव बंधन को मैं, पीड़न समझूँ ?
समझूँ या कि निरादर ? नाश, पराजय समझूँ ?

"तुम से रण में, हो कर सम्मुख लड़ने वाले
सुर-शत्रु नहीं पाते हैं क्या, तपने वाले
आदि योगिजन पा लेते हैं, जिन लोकों को
उनको, निज वैर भाव से उत्तम लोकों को ?
आनंदघन ! तीव्र वैर या कि, चाहिए, सुभक्ति,
रह जाते हो दुर्लभ किसे, फिर, अनंत शक्ति ?

"'मीत मौत ही है, बाँधव ही हैं यम, सेवक
ही हैं उसके किंकर; यह तन होगा कब तक
दृढ़ ? भला बनाया इसको, विधि ने, पत्थर से ?
स्थिर है क्या जीव ? जानता नहीं असार इसे ?
झूठे इस भव को, सच मान, मूर्ख मरता है
सत्य, दान, दया, धरम से छुट कर, गिरता है !

"बंधु चोर हैं, सुत हैं ऋणदाता, कांता जन
कारण हैं भव के, अस्थिर हैं ये सारे धन,
अति चंचल हैं तन', कार्यार्थी अन्यान्य सभी,
आयु भागती सरपट, रुकती वह नहीं कभी,
लौकिक ऐश्वर्य सकल, बुद्बुद सम, सोच यही
धिक्कृत करके अपने जनक को महान् सुधी,
साधु–शिरोमणि, मेरे दादा प्रह्लाद गये,
तव चरण सरोजों की शरण ! भद्र अमर हुये !

"अब तक के सब पूर्वज मेरे, हे शुभ–दर्शन !
बिना वैर ठाने, कर ना पाये, तव दर्शन।
और आज, प्रार्थी बन आये हो, घर मेरे!
पद्मनयन! क्या न यह प्रताप, पुण्य का मेरे?"

देखा तब हर्षित हो, दानवेन्द्र ने समक्ष,
नव – पद्म – दलायताक्ष को, विशाल – पीन – वक्ष
पिशंगांबराच्छादित अमल साधुवादी को,
श्री दायक, धन संसारच्छद विच्छेदी को,
भक्ति – लता – तिरोहित – श्रीहरि – श्रीपाद को,
खेद रहित, बोध कला मोदित, प्रह्लाद को!

इस प्रकार, समागत पितामह को निज, लख कर,
वरुणपाश–बद्ध विरोचन–नन्दन ने, लख कर
अपनी असमर्थता, प्रणाम, उचित करने में,
संकुला – श्रुलोल – विलोचन हो, मन, अपने, में
लज्जित बन, शिरोनम्रभाव से प्रणाम किया!

पुलकित तब अंग अंग, दण्डवत् प्रणाम किया,
मुख मंडप में बैठे वटु को! शुभ नाम लिया,
नन्द सुनन्दादि पार्षदों से, परिवेष्टित बन
समासीन प्रभु का, फिर बोला, श्रद्धानत बन।

"पहले दे कर इसको, इंद्रराज्य पदवी, फिर
हर बैठे आज देव! भला किया! गर्व–तिमिर

घोर विकृति, है, मोहन अहंकार का कारण,
उसको, कर दूर, दया की तुमने करुणा–घन !

"भला, पाश बन्धन है यह, सच देखा जाये ?
इन्द्रराज पद में, तत्वज्ञ, कहाँ रस पाये ?
तव चरण–सरोज – नियत – सेवा की समता, कब
कर पायेगा, सुरपति–राज–भोग, मिल कर, सब ?
गर्व बढ़ेगा तो, आँखें अंधी होती हैं,
कान सुन नहीं पाते, धी विभ्रम पाती है,
सेवायें तव सारी, जाती है भूल प्रभो !

"महिमा का गर्व तोड़, निज विराट रूप, विभो
दिखला, उपकार किया, इस पर अनुपम स्वामिन् !
निखिल लोक साक्षी, जगदीश्वर, अन्तर्यामिन्
नमन शत सहस्रवार ! नारायण देव नमन् !"

उस अवसर पर, राजन् ! ततमत्तद्विपयाना,
परम सती, कुचद्वयनिरुंध – चोल – संव्याना
धृत – वाष्पांबु – विताना, करयुगलाधीनलला
टस्थाना, विंध्याबलि, बलि की पत्नी, अमला,
"मम पति–भिक्षां देहि ! मृदुलमते ! रमापते !
कहती पहुँची, त्रिजगद्रक्षामन वामन के
निकट, भक्ति भाव में पुनीत, सुनिश्चल मन ले !

कर प्रणाम, वटु के चरणों में, निज शीश झुका,
बोली, मृदु मन्द्र गिरा में, प्रभाव वामन का
जान भली भाँति–"लोकस्तुत्य ! प्रभो लोकेश्वर !
लोक सभी हैं, क्रीडाकंदुक तव, भुवनेश्वर !

"बन कर, अनजान तथ्य से, इस, संसारी जन,
बुद्धि हीन, कहते अपने को लोकेश, कुजन !
आप ही रहे प्रभु, हैं, होंगे सब लोकों के !
मेरे पति देव हैं, सुज्ञाता, इन बातों के।

"'नहीं' नहीं की, 'जाओ जाओ जी !' नहीं कहा,
'अनुचित है, माँग, तुम्हारी, लौटो ! नहीं कहा,
'हाँ हूँ' तक नहीं किया, लोकत्रय दान दिया !
बांधा प्रभु ने ! इन ने हाय, कौन दोष किया ?
रमासती–चित्त–चोर ! मम पति को बांधा क्यों ?
आश्रित–सुरतरु ! मेरे आश्रय को बांधा क्यों ?"

इस प्रकार, प्रह्लाद तथा विंध्यावलि दोनों,
विनती प्रभु से करने लगे, जोड़ कर दोनों,
प्रगटे, तब वहाँ कनक–गर्भ ! विष्णु से बोले
बलि का दातृत्व लख, अपूर्व हर्ष में डोले !

"भूत–लोक–ईश ! भूत भावन ! हे देव देव !
सकल लोक नाथ ! दिव्य रूप प्रभु ! आदि देव !

अपना सब कुछ, इसने, प्रभु को दे डाला है!
दानवीर यह, प्रभु की करुणा का भागी है!
दण्ड का नहीं कदापि, कमल–नेत्र! त्यागी है!

"मुक्त करो इस को, भय–मुक्त करो करुणाघन!
तनिक सलिल छिड़का, दूर्वांकुर तव चरणार्पण
करने वाला, क्षण में बन जाता, लोकेश्वर!
ले कर तव नाम भूल से, बनता सब में वर!
तब, पा कर तुम को प्रत्यक्ष, सामने अपने,
माँग बैठने पर, सब राज्य, धन, दिये, अपने,
दान वीर इस बलि ने! ऐसे को दृढ़ बंधन?
प्रभु! क्या समुचित है यह, वरुण–पाश का बंधन?"

चतुरानन के ऐसे वचन श्रवण कर, बोले
परमेश्वर,—"जिस जन पर, मेरी करुणा हो ले,
उसकी संपत्ति वित्त सब हर लूँगा पहले।
सांसारिकता के गुरुमद के वश हो पगले,
जो मेरा और, जगत का, करते तिरस्कार,
वे सदैव सकल योनियों में पड़ दुर्निवार,
जलते रहते, त्रिताप–ज्वालाओं में अपार!

"वित्त, वयोरूप, बलैश्वर्य, कर्म, जन्मों का,
गर्व छोड़ करके, विद्या–शास्त्र–ज्ञानों का,
इक रस निर्मल चित्त लिए रहता है, जो जन,
रहता वह, मेरे सप्रेम-त्राण का भाजन!

जो मुझमें करता रति, छोड़ स्तंभ लोभ मोह
भव वैभव मद, कथमपि नष्ट न होगा जन वह !

"बद्ध हुआ, गुरु से अभिशप्त, स्थान चलित हुआ,
बंधु-ब्रज-त्यक्त हुआ, सब कुछ खो रिक्त हुआ,
विभवहीन, वित्तहीन हो कर भी, सत्यतेज,
शुद्धता तथा करुणा–गुण लिये रहा सहेज !
ब्रह्मन् ! क्या अनघ, शुद्ध ज्ञानी, यह साधारण
जन है ? माया को जीता अजेय, अति दारुण !

"जान असुरपति, धीरज की लखने मर्यादा,
मैंने इतना छल-बल, पुण्य-पुरुष पर लादा !
सत्य को निबाहा, इस अमल सदाचारी ने,
साधु ! साधु ! इसको पा, सब कुछ पाया मैंने !

"सार्वणि मनु के समय, होगा यह निर्जरेंद्र,
देवों तक को दुर्गम पद दूँगा, मैं उपेंद्र !
अपने चरणों में, दे, सर्वोन्नत नित्य वास,
रक्षा कर लूंगा ! तब तक, करता रहे वास,
छूट आधि व्याधि व्यथा से, तज कर भूख प्यास,
विश्वकर्म–निर्मित–सुतलालय में, यह समोद,
सकल भोग भाग्य भोगता हुआ, सभी प्रमोद !"

फिर बलि से बोले, तज कपट विष्णु, जालसाज,—
"कुशल हो सदा तुमको ! इंद्रसेन महाराज !

डरो नहीं ! धन्य, दानवीरता तुम्हारी है !
जाओ सुतलालय में जो कि मनोहारी है !
जहां देवता तक, जाने, ललचाया करते,
जरा मरण चिंता दुःख नहीं सताया करते।
जाओ उस स्थान में, सुखी रहो सुराज करो,
लोकपालकों से, रह कर स्वतंत्र, साज करो !

"तव आज्ञोल्लंघन करने वाले असुरों का,
वध किया करेगा, चक्र सुदर्शन क्रूरों का !
रात-दिन वहाँ रह कर, कृपया दर्शन दे कर,
रक्षा तुम लोगों की, किया करूँगा आ कर !

"दैत्य दानवों की संगति के कारण, तुम में,
जो कुछ भी, असुर भाव, पैठ गया हो, तम में
सूर्य तेज-सा, मेरे सतत ध्यान के कारण,
वह सब छुट जायेगा, चलो सुतल को पावन !
मेरी आज्ञा का कर लो दानवपति पालन !"

मूर्ति-त्रय के भी उन, मूल तत्व की वाणी,
मधु, द्राक्षा, इक्षुरस–प्रवाह–सी मधुर वाणी,
कानों के द्वारे, बलि के अंतर में पैठी,
बाहर भीतर को पूरा प्लावित कर बैठी !
अंतर भर गया तो, हटा पलकों के दुआर,
झर झर झर झर बैठी, ज्यों उठी अमंद ज्वार—
आनँद के सिन्धु में ! बही लोचन सलिल धार !

उर: फलक, पुलकों के कुलक तिलक से, सुढार
शोभित हो रहा! हाथ जोड़े, निज माथे पर,
वह उमंग में अभंग, राक्षस पति, बन आतुर,
सांद्र–हृदय से, सुंदर वाणी बोले सादर—!

"बड़े-बड़े लोक पालकों पर भी, कृपादृष्टि
कभी डालते नहीं प्रभो! मुझ पर दया वृष्टि
कर बैठे आज! बड़प्पन दे बैठे इतना!
जीवन को, सफल बनाया, रक्षण दे, कितना?

"यह आदर, सम्मान, दयारस, मम–गुण–गायन
पर्याप्त नहीं क्या, मुझ अल्प के लिए भगवन?
पन्नगतल्प! सुरेश्वर! भली भाँति तुम्हें जान,
पकड़ सके जन तो, विपत पड़ेगी क्यों निदान?"

फिर बलि ने, हरि को चतुरानन को नमन किया,
भालचन्द्र का कर वंदन, बंधन-मोक्ष लिया,
तदनंतर, अपनों को साथ लिये चला गया,
सुतलालय को! तब प्रह्लाद निज कुलोत्तारक
पौत्र का चरित्र देख, हर्षित हो, जगतारक
हरि से बोला, उत्तम वचन उचित सुखकारक!—

"चतुरानन ने, प्रसाद यह, कभी न देख लिया।
शर्व ने, नहीं, इन ऐश्वर्यों को, प्राप्त किया।
औरों को कहाँ सुलभ? हम असुरों के, भगवन,
दुर्लभ तुम, दुर्गपाल बन बैठे, मनभावन!

पद्मसंभवादि भवत्पद – पद्म – मरंद – पान
महिमा–वश देख सके, ऐश्वर्य सभी महान् !

"कैसा अश्चर्य प्रभो ! हम जैसा कुत्सित जन,
अल्प बुद्धि वाले, अतिदुष्ट–योनि–गत खल जन,
तव करुणादृष्टि–मार्ग के पंथी बन बैठे !
जाने, हम कितना दुर्लभ जप तप कर बैठे !
मंगलकर ! मंगलमय ! मंगलात्म ! हे मंगल !
करना उद्धार हमारा, विचित्र, जग--मंगल !

"और सुनें समदर्शी सर्व व्यापी हो कर
भी, विषम बने रहते हो प्रभु, तुम जीवों पर !
भक्तों को, सुर–तरु बन, कर देते, पूर्णकाम
अपने विमुखों के प्रति रहते हो, देव ! वाम !

करने वाले, स्तुति प्रह्लाद को विलोक, कहा,
परम पुरुष ने भर नेत्रों में वात्सल्य अहा !
"साधु, वत्स ! साधु ! साधु ! प्रह्लाद ! चले जाओ,
अनघ पौत्र को, निज परिवार को लिये जाओ
सुतल लोक को; मैं खुद गदापाणि बन निसि दिन
रक्षा कर लूंगा, तुम सब अनघों की, पल छिन !"

प्राप्त कर निदेश, कर प्रणाम, परम ईश्वर की,
जोड़ हाथ माथे, करके परिक्रमा, हरि की

बलि को ले साथ, हो बिदा प्रभु से, परम साधु
एक गहन बिल–द्वार में प्रवेश कर अगाध
सदल बल सुतल को प्रह्लाद गये सप्रमोद !

तदनन्तर, बोले प्रभु वामन, भार्गव को लख,
याचकगण बीच उपस्थित दानव गुरु को लख,
"कर दो निर्विघ्न पूर्ण, बलि का यह मख, अपूर्ण,
विप्रवर्य ! विषम-कर्म हो जाता, सफल, तूर्ण,
ब्रह्मनिष्ठ द्विज गण की दृष्टि से महत्वपूर्ण !"

सुन कर प्रभु का निदेश, बोला, असुरेश्वर–गुरु,
"अखिल कर्म–पति मखेश तुम हो ! मख–पूरुष गुरु
तुम ही स्वामिन् ! तुम प्रत्यक्ष जहाँ तुष्ट हुए !
कर्म कहाँ, रह जाते, विषम ? सभी पुष्ट हुए !
द्रव्य, देश, काल, योग्य तंत्र मंत्र की त्रुटियाँ
भव्य नाम ही से, तव, मिटतीं, सारी त्रुटियाँ !

"फिर भी, आज्ञा प्रभु की, शिरोधार्य कर लूँगा !
इससे बढ़ अहोभाग्य कहाँ प्राप्त कर लूँगा ?
भगवन ! तव अज्ञाओं का पालन करना ही,
लोगों को मंगलकारक है, नतशेषाही !!"

फिर शुक्राचार्य ने, किया समाप्त, बलि का मख,
विप्रों मुनियों से मिल कर, वामन के सम्मुख !

इस प्रकार हरि ने, बन वामन, बलि से माँगी
पृथिवी; अग्रज अमरेश्वर को, बन अति त्यागी,
त्रिदिवालय, दयासिंधु ने फिर से लौटाया।
खोया बल भाग्य विभव सबका सब लौटाया!

उस अवसर पर, विरिंचि ने, ले कर, साथ दक्ष,
भृगु प्रमुख ब्रह्म–गणों को, अमरकटकाध्यक्ष
स्कंद को, महेश को, सुरर्षि पितृदेवों को,
अन्य नरेशों को, की घोषणा कि, "लोकों को
लोकपालकों को, संप्राप्त रहेगी, अब से
वामन की प्रभुता! वे श्रेष्ठ रहेंगे सब से!"

यह सुन कर, अदिति और कश्यप थे हर्षमगन!
सबने संकल्प कर लिया, उस क्षण, "सब शोभन–
कर्मों का, धर्म, कीर्ति, व्रत, लक्ष्मी, वेदों का,
स्वर्ग और अपवर्गों का, समस्त देवों का,
बने रहेंगे, प्रधान, यह उपेन्द्र शुभ लक्षण!"
ब्रह्मा, लोकेश्वर, अमराधिप सब मिल उस क्षण
देवयान पर, वामनदेव को बिठा सादर,
अमरावति को लौटे पुनः मोद मन में धर!

इस प्रकार राजन्! बलवान अनुज के कारण
इंद्र पा सका फिर से इंद्रपद; असाधारण
शक्तिवान छुटभैय्या अग्रज को मिल जावें,
इच्छायें, फिर, उसकी क्यों अपूर्ण रह जावें?

साझासीरे के हित माँग, तकाजे न किये,
राज किया नहीं, आप, माँग भीख, त्रिजग दिये
दाऊ को ! देव–जननि के कनिष्ठ सुत समान
जग में हैं कौन अनुज अनुपम त्यागी महान् !

कोख लजाने वाले, पुत्रों से बढ़ कर शत,
माता को जनना अच्छा सपूत इक बलयुत !
त्रिदशगणों की माता अदिति सती ने निदान
वटु महान् को ज्यों, जन्म, दिया हो शुभ प्रदान !

इस प्रकार वामन–भुज–पालित त्रिभुवन–सुराज,
फिर से स्वीकार कर, बढ़ा निर्भय देवराज !
तदनंतर ब्रह्मा, शिव, स्कंद, भृगु प्रमुख मुनी,
दक्षादि प्रजापति, पितृदेव, सिद्ध, साध्य गुनी,
चारण, वैमानिक, गंधर्व प्रशंसा करते,
अद्भुत हरि लीलाओं पर, गुरुविस्मय करते,
गायन करते, सुमधुर गीतों में चले गये !
नर्त्तन करते निज निज लोकों में चले गये !

फिर शुकयोगींद्र, परीक्षित को लख कर बोले—
"मनुजाधिप–चंद्र ! त्रिबिक्रम–महिमा–गुण तोले,
समझे-बूझे गिन ले, यह किससे होवेगा ?
भू-कण गिनने वाला तक परास्त होवेगा !

"अद्भुत लीला वाले हरि की, सद्भावित शुचि
चरित सुने जो नर वह उद्भटविक्रम, वर रुचि

प्राप्त कर बढ़ेगा, जीवन में, पग पग पल पल !
अंत में करेगा संप्राप्त, श्रेष्ठ गति, उज्वल !

मानुष पैतृक दैवी कर्मों के अवसर पर,
पूत त्रिविक्रम के विक्रम की गाथायें वर,
प्रीति सहित, जो भी, गा लेते हैं, जहाँ जहाँ,
शाश्वत-सुख पा लेते हैं वे जन, यहाँ वहाँ !"

बन निष्क्रिय, स्वर्ग गँवा बैठे निर्जर गण के,
जंभवैरि के संकट – सागर – संतारण के
हेतु, आप बन कर वटु, वैरोचनि से जा कर
भीख माँग, तीन पैग धरा, दान में, पा कर,
पादद्वय फैला, तीनों लोकों में, विराट
वपु भर, ब्रह्माण्ड मापने वाले पृथु स्वराट्
विष्णु, विश्ववपु आनंदघन को संतत प्रणाम !
देव त्रिविक्रम वामन को अनंत शत प्रणाम !

हरिः ॐ तत्सत्

卐

आंध्र भागवत परिमल

अम्बरीष कथा

ॐ

आन्ध्र भागवत परिमल

अम्बरीष कथा

सप्तद्वीपा वसुंधरा का
विपुला, भार धरे हाथों,
प्राप्त किये सारे वैभव,
चातुरी, ऐश्वर्य पृथु आठों,
लिप्त न हो दुर्व्यसनों में
वैष्णवार्चनाओं में लग कर
सुप्त न रह पल भर को भी
अम्बरीष गुणी रहे नृप वर !

मन मधुहर के श्री चरणों में
वाणी हरिगुण–कीर्तन में,
कर्ण जनार्दन–कथा–श्रवण में,
कर प्रभु–मंदिर–मार्जन में,
वीक्षण विष्णु–रूप–वीक्षण में,
शिर चक्रधर–प्रणामों में,

पद केशव–गृह–परिक्रमा में,
काम ईश–कैंकर्यों में,
संग शौरि–जन–तनु–संगम में,
नासा असुर–वैरि–जन के
पाद–सरोजों में, रसना को
तुलसीदल में वामन के,
रतियाँ सारी पुण्य जनों की
संगतियों में लगा चुके,
राजचंद्र वह, राजन् ! अपने
सारे भव–भय भगा चुके !

एक समय, वह राज-तपस्वी
धन–वैभव की गरिमा में,
पाप रहित बन यज्ञेश्वर प्रभु
कमल नयन की महिमा में,
तन मन प्राण लगा बैठे निज,
वशिष्ठादि मुनियों को ले,
सरस्वती के पावन तट पर
हय-मख-मंडप बहु खोले ।

किये अनेक यज्ञ मेधायुत
दीं अनगिनत दक्षिणायें,
सर्वकर्म हरि को अर्पित कर,
कीं सबकी प्रदक्षिणायें,

हेम लोष्ठ में समदृष्टी रख,
धरणी–राज रहे करते,
जनता की सारी इच्छायें
निसिदिन पूर्ण रहे करते !

विष्णुजनों में और विष्णु में
अकलंक मन लगा बैठे।
वंशानुगत राज्य पालन में
अनासक्त-रति कर पैठे !

परम-भागवत वह राजर्षी
हरिनाम ले सोचते थे,
हरि का कर स्मरण देखते थे,
हरि नाम ले सूँघते थे,
हरि का कर संस्मरण स्पर्श करते
'हरि हरि !' कह चखते थे
हरि ! हरि ! अंबरीष का वर्णन
कौन भला कर सकते थे ?

यों हरि चरणों में अपने को
सर्वात्मना समर्पित कर,
पुण्यचित्त–नृप शासन करते
थे सबको संतर्पित कर।

ईहा विरत हो गयी उनकी
हय-गण में औ' करि–गण में,
सभी धनों में, केलि-वनों में,
पुत्रों में औ' मित्रों में
पुर में नव अंत:पुर-वर में,
बंधुजनों में स्व–गणों में,
भव–कर्षण में, यश–वर्षण में
आभरणों में, वरणों में !

रवि बिंब ज्यों राहु से छूटे
राजर्षी वह, संसृति से
मुक्त हो गये, निर्मल-मति बन,
नारायण नाम-स्मृति से !
लख एकांत भक्ति भूपति की
पुरुषोत्तम हरि तुष्ट हुए,
भक्तलोक-वत्सल जन-रक्षक
मधुसूदन परितुष्ट हुए !

दिया अंबरीष को विष्णु ने
अरिभट-शिक्षण में सक्षम,
निखिल-जगदवक्र चक्र अपना
निजजन – संरक्षण – सक्षम !

हो संरक्षित चक्र सुदर्शन
से इस भाँति वह तपोधन,

लिये संग छाया-सी पत्नी को
सद्गुण–खनि, करुणाघन,
हरि को संतर्पित करने हित
रखने लगे द्वादशी–व्रत
एक वर्ष–पर्यंत यथाविधि
यमुना तट पर, हे सुव्रत !

व्रत की परिसमाप्ति पर कातिक
के मास में तीन रातें
कर उपवास, नहा कालिंदी
जल में, हरि के गुण गाते,
मधुवन में अभिषेक विधान
समेत विविध परिकर ले कर,
हरि का किया महाभिषेक,
सुमनोहर गंधाक्षत ले कर !

नव-नव परिमल से सुरभित
मकरंद भरे सुम अर्पित कर,
तृप्त हुए नरपति वह मन में,
त्रैविक्रम को तर्पित कर !

तदनंतर दान किया प्रभु ने
वैदिक सद्–ब्राह्मण गण को,
छः करोड़ गौओं को सुंदर,
देती थीं जो सुख मन को,

नव वय वाली, जिनके बड़े
थनों से दूध रहा चूता,
जिनका रूप अनूप सभी
त्रुटियों से रहा था अछूता,

रहीं साधुता का अवतार
सुवर्ण खचित शृंगों वाली,
रहीं चाटती जो वत्सों को
चांदी मढे खुरों वाली।
उन झुण्ड़ों की सित आभा से
सभी दिशांचल व्याप्त हुए।
उन को पा कर ब्राह्मण यद्यपि
धनी, हर्ष संदीप्त हुए !

फिर असंख्य भूसुर श्रेष्ठों को
परम भक्ति से खिला दिया,
व्यंजन पक्वान्न खीर घृत से,
सब का मानस खिला दिया !
आज्ञा पा कर उन सब की
व्रत का पारण करने बैठे।
साधु-शिरोमणि अंबरीष व्रत
सुसंपन्न करने बैठे !

उस अवसर पर भासुर निगम–
पदोपन्यास, चित्त-वचसा

निर्मल अति, सुतपोविलास
हरिदश्व-भास-मुनि दुरवासा,
अनुपम-योगाभ्यास-निष्ठ, आये
निवास को नरपति के,
देख अतिथि को नृप ने नमन
किया चरणों में मुनिपति के।

वर आसन पर बैठा, अर्घ्य
पाद्य दे पूजा अर्चा की,
भोजन करने को अपने घर
प्रेमाग्रह से याचना की।

कर स्वीकार प्रार्थना प्रभु की
दुर्वासा संतुष्ट हुए।
निर्मल कालिंदी जल में
जा कर सानंद प्रविष्ट हुए।

समाधिस्त हो ब्रह्मलीन बन,
मुनि ने बहुत विलंब किया।
द्विधा-ग्रस्त राजा ने विद्व—
ज्जन-मत का अवलंब लिया।

"घड़ी एक रह गयी शेष
द्वादशी समय के टलने में।
घड़ी मात्र रह गयी द्वादशी
व्रत के फल के मिलने में।

पारण कैसे किया जाय घर
आये ब्राह्मण को तज कर ?
व्रत का उल्लंघन ही कैसे
किया जाय पारण तज कर ?

"करने गये स्नान मुनिवर
पानी से निकल नहीं पड़ते।
क्षण भी शुभ द्वादशी पर्व के
चले जा रहे हैं उड़ते।
पारण करना है कर्त्तव्य परम
सत्वर, क्या करूँ अहो !
धर्म विहित आदेश, धर्मविद,
क्या है संप्रति मुझ कहो !"

तब राजा से बुधजन बोले
"अधिप ! द्वादशी पारण यह,
तजना धर्म नहीं अतिथि के
नहीं आने के कारण; यह
कर सकते हैं इस अवसर पर,
जल-भक्षण कर लें, जिससे
भोजन हो जाता है और
नहीं भी, अन्य न पथ इससे !"

धर्मासन का यह निर्णय सुन,
अंबरीष परितुष्ट हुए।

हरि-स्मरण-युत जल-पारण कर,
अंतरंग में तुष्ट हुए !
बैठे तदनु प्रतीक्षा में
दुर्वासा मुनि अभ्यागत की,
श्रद्धा भक्ति समेत अनल्प,
नहाने गये तथागत की।

कुछ अंतर में लौटे वे निज
स्नानादिक से निवृत्त हो,
सेवित हो राजा से, मन में
जान हाल, रोषाकृति हो,

चढ़ा भृकुटि प्रलयकरी, कंपित
बदन लिये, क्षुद्बाधा-वश,
आपा भूल गरज उट्ठे—"यह
मदोन्मत्त यों स्पर्द्धा-वश,
बन, नृशंस, धूर्त, अहंकारी
हमें बुला कर भोजन को,
पहले ही से खा बैठा है,
देखा तुमने दुर्जन को ?

"हो सकता है नहीं भक्त, यह
धर्म-विरोधी दुष्कर्मा !
संपत्ति के गर्व में भूल,
बना साधु-वैरि पशु-कर्मा !

किंतु अभी देता हूँ चखा
मज़ा क्रूर को ढिठाई का !
मुझे कौन रोकेगा ? पामर
की झूठी प्रभुताई का
अभी खोल देता हूँ रहस्य
देखे जग मेरा साका !"

फिर 'कट कट कट' दाँत पीस कर
आँखों में भर अग्नि शिखा,
छोड़ कनखियों से अंगारे
गाल फुला कर तेज दिखा,
हुंकृति कर भयकर उखाड ली
जड समेत निज रक्त–शिखा ।
बना उसे कृत्या हथियारों
से लदी हुई विकराला,
छोड़ा मुनि ने अंबरीष पर,
शूलों-सम असित अराला[1] !

कालानल की लाल जीभ-सी,
भाला ले कर हाथों से,
धरती को कंपित कर थर–थर
भयकर चरणाघातों से,
कृत्या वह अति घोरा पहुँची
नरपति के ढिग 'हा ! हा !' कर,

सके काले केश शूलों के समान हों

लख कर वह उत्पात घोर, रह
गये लोग रव 'हा ! हा !' कर !

देखा तब हरि विश्वरूप ने,
मूर्ख मौनि का पागलपन !
भेजा चक्र, लगाने तुरत
ठिकाने ऋषि का पागल मन ।
चला सुदर्शन प्रलयानल बन,
जला दिया उस कृत्या को,
पलक मारते, सूखे वन-सा,
मुनि—प्रेषित—दुष्कृत्या को !

प्राप्त न कर परितोष, अनंतर
झपटा मुनि पर शर जैसा ।
पीछा किया भगोड़े मुनि का
बाज लवा पीछे जैसा
झपट पड़े; मेरु गुहा में मुनि
घुसे प्राण ले कर तो, वह
घुसा उरग के पीछे दावा
जैसा चक्रानल दुर्वह ।

भुवि में घुसे तपी तो, वह भी
भुवि में घुसे ! वारि-निधि में
दौड़े तो दौड़ पड़े पीछे,
वेग लिए अति जल-निधि में !

नभ पर चढ़े अगर, चढ़ जाये
नभ पर आप ! दिशाओं में
भाग चले तो भाग चले
पीछे मुनि के, आशाओं में !

बन निरुपाय गिरे धडाम से
तो वह भी झट गिर जाये !
खड़े रहे उठ किसी तरह तो,
तुरत उठ खड़ा हो जाये !

भाग उठे तब अंधाधुंध मौनि
वह भी पीछे भागा।
हरिचक्र से त्राण पाने
दुर्वासा भगे बन अभागा !

प्राप्त न कर संत्राण किसी भी
जग में, सब सुध–बुध खो कर,
चक्रानल ज्वालाओं से बन
कर, संत्रस्त, दीन, रो कर,
गये शरण में चतुरानन की,
बोले अति कातर हो कर—
"विश्व-जनन-व्यापार-धुरीण !
प्रभो ! धाता ! सकरुण हो कर,
देखो दीन दशा मेरी, लोकेश !
सुर–शिरोमणि ! स्वामिन् !

शांत बना दो चक्र सुदर्शन
की ज्वालाओं को स्वामिन् !"

बोले तब चतुरानन मुनि से—
"जब मेरी दो 'परार्द्ध' की,
आयु चलेगी बन समाप्त,
औ' काल रूप भगवन निज की,
लीला यह सृष्टि की समेटेंगे,
जगत को जलाने की
इच्छा कर लेंगे मन में
सारा खेल बंद करने की,

"तब जिनके भ्रूभंग मात्र से
सृष्टि ध्वस्त हो जायेगी
सत्यलोक की यह मेरी
पदवी समाप्त हो जायेगी।
ऐसे हरि की चक्रानल
ज्वाला को भला कौन रोके !
जान बूझ अपने को सर्व—
नाश की ज्वाला में झोंके ?

"मैं, शिव जी, दक्ष प्रजापति-गण
भृगु, भूतेश्वर, इंद्र सभी
समझ लोक-हित धरते हैं सिर
पर उनके आदेश सभी।

उन्हीं के नियमों में बँध कर
निज कर्तव्य पालते हैं।
उनके ही संकेतों पर चल
निज–निज पद सँभालते हैं!

"इस कारण दुर्वार
सुदर्शन को रोक नहीं पाऊँगा!"
घबड़ा कर तब मुनि ने सोचा
'रजताचल को जाऊँगा!'
पल में कैलास को पहुँच कर
बोले शिव से सभी कथा,
हरि-चक्र का उपद्रव भीषण
अपने मन की महा व्यथा।

कहने लगे भवानी वल्लभ—
"सुनें तात! जिन जगपति में,
चौरासी जीव–कोश, कई
सहस्रों की संख्याततिं में,
प्रजनन और विनाश प्राप्त
करते हैं, समय उचित पा कर;
भारी चक्कर खा जाते हैं
जिनकी माया में आ कर,

"मैं, देवल, आसुरि, नारद, अज,
सनत्कुमार, कपिल ज्ञानी,

धर्म, मरीचि आदि सिद्धेश्वर,
अन्य पारविद अतिमानी,
जिनकी माया का पार नहीं
पा लेते हैं गहन अगम,
सहते हैं इतनी झंझट
जिसके चंगुल में फँस दुर्गम,

"उस माया के ईश्वर, हरि के
शस्त्र-राज को रोक सकें,
हम से नहीं बन सकेगा
यह काम, चक्र को टोक सकें !
हे मुनिनाथ ! इसी में है अब
कुशल विष्णु की शरण गहें
कर सकते हैं वही त्राण,
कर लें, जैसे वह देव कहें !"

बन निराश कैलासेश्वर की
बातों से वह दुरवासा,
चले विकुंठ नगर को तज कर
निज जीवन की सब आसा।

उस वैकुण्ठपुरी में स्वर्ण
रत्न की बनी अटारी पर
लक्ष्मी-संग नर्म-भाषण करने
वाले अघहारी वर

देवाधीश्वर को विलोक गिर
पड़े दण्डवत चरणों में !
बोले रो कर—"हे भगवन् !
स्थान दो मुझे निज चरणों में !

"वरदायक ! देवेश ! भक्त–
रक्षा-विद्यापरतंत्र ! विभो !
शीतल करो कृपा कर
चक्रानल ज्वालाएँ, पाहि प्रभो !
तव महिमा सागर का पार
न जान मूर्खता-वश मैंने ।
तव प्रिय भक्तों के प्रति अप–
राध किया बन पापी मैंने ।

"महिमा-विस्मृति और अहंकृति
मेरी क्षमा करो, भगवन !
परम नारकी मन में कर ले
स्मरण नाम का तव पावन,
तो क्या प्राप्त न कर लेता है
वह अनंत सुख मनभावन ?
चरणकमल छोड़ूँगा नहीं
उबारो सत्वर करुणाधन !"

यों कातर क्रंदन करने वाले
दुर्वासा को लख कर

बोले हरि—"हे नृपी सुनो !
बुद्धिमान् साधु, बड़ा हठ कर,
मेरा हृदय चुरा लेते हैं
खेल-खेल ही में निसि दिन,
पावन भक्ति लताओं से दृढ़
बाँधे रखते हैं पल छिन।

"वशवर्ती बन कर उनकी
चातुरी कुशलता का मैं भी—
मदगज ज्यों जाल में फँसा,
परवश बन जाता है—मैं भी
जहाँ-जहाँ वे ले जाते हैं,
वत्सलता का भाव लिये,
वहाँ-वहाँ जाया करता हूँ
जन - रक्षण - उत्साह पिये !

"अपना हित चाहता नहीं मैं कभी
भक्त-हित को तज कर।
भक्तों का एकमात्र मैं ही हूँ
आधार परम शुभ कर।
भक्त जहाँ जावे पीछे
लग जाता हूँ मैं आप सदा !
गैय्या के पीछे लगा रहे
बछड़ा ज्यों दिन-रात सदा !

"और सुनें, जो लोग छोड़ कर
अपने तन को औ मन को
संतति को, निज बंधुगणों को
आत्मसती तक को, धन को,
अन्य किसी का ज्ञान न रख कर,
मुझको भजते रहते हैं,
हों वे कैसे ही जन, मुझ से
अलग कभी ना रहते हैं !

"उत्तम पति को पुण्य-सती ज्यों
अपने वश कर लेती है,
उत्तम मति वाले लोगों की
भी ऐसी स्थिति होती है।
पंचेंद्रिय गण द्वार बंद कर
जग की सब ईहाओं से !
मुझे प्रतिष्ठित कर लेते हृदयों
में वे दृढ़ भावों से !

"साधुजनों का मन मेरा है।
साधु गणों का मन मैं हूँ।
सभी जगों के संत जनों का
ज्ञाता एकमात्र मैं हूँ !
इसी तरह मेरे कर्मों का ज्ञान
साधु ही रखते हैं,

मम चरित्र के मर्म सभी, ब्राह्मण !
साधु ही परखते हैं !

"तप विद्या, ये दो, भूदेवों
को सन्मुक्ति दिलाते हैं,
यही दुष्ट दुर्विनीत जन को
बड़ी हानि पहुँचाते हैं।

"मेरा तेज साधु संतों में
गुप्त रूप से रहता है।
उन्हें सताने वालों को
अनल-सा जलाता रहता है।
हरता है मानसिक शांति
अत्याचारी का तथ्य सुनो !
जाओ ब्राह्मण साधु अंब–
रीष की शरण, यह पथ्य, गुनो !

"वह नाभाग-पुत्र करुणामय
है, लोक-प्रिय गुण की खान !
अभय मिलेगा तुम्हें प्रसन्न
बना लो उनको, ऐ नादान !"

श्रीपति का आदेश कान कर
दुर्वासा काँपते हुए,
चक्रानल की ज्वालाओं में
प्रखर झुलस हाँफते हुए,

प्राण हथेली पर ले कर
भागे तेज गँवा निज सारा
दीन विषण्ण, खिलाड़ी लौटा
हो, जैसे सब कुछ हारा !

भक्ति लिए मन में सच्ची
दुर्वासा ने देखा जा कर,
करुणामय रुचिर-वेष-धारी
अंबरीष को सुगुणाकर,
मृदुल-मंजु-मितभाषी और
उदार-मनीषी को अघहर
दोष-रहित, जग-भूषण
भगवन्नाम-परायण को मनहर !

बन शोकाकुल पकड़ लिया
दोनों चरणों को नरपति के।
छोड़ा नहीं उन्हें सानुरोध
आग्रह पर भी जनपति के !
राजचन्द्र सकुच गये बेहद
मुनि का वह आचरण निरख।
करुणारस पीडित मन से
कर उठे स्तवन हरिचक्र-परक !

"तुम्हीं अनल हो ! तुम ही दिवाकर !
तुम्हीं चन्द्र ! तुम ही जल हो !

तुम्हीं समीर ! और तुम ही नभ !
तुम ही विशाल भूतल हो !
सकल भूतगण सर्वेंद्रिय गण
तुम ही तुम हो शुभ दर्शन !
तुम ब्रह्मा ! तुम सत्य ! यज्ञ तुम !
तुम ही फल ! चक्र सुदर्शन !

"तुम्हीं लोकपति ! सर्वात्मा तुम !
तुम्हीं काल ! यह जग तुम हो !
बहु-मुख-भोजी तुम ही हो,
नित्य मूल तेज दिव्य तुम हो।
शस्त्र राज प्रिय कमलनयन के !
बारंबार नमन तुमको !
शिथिल हो चुके हैं मुनि, कृपया
रक्षा करो नमन तुमको !

"प्रेरित हो हरि से, चल पड़ते
हो जब तुम समरांगण में।
पहले ही सुन कर निदना
भीषण वह असुर-दैत्यगण में
भगदड़ मच जाती है; मस्तक,
चरण, भुजाएँ, ऊरु-युगल
कर, कटि कट गिर जाते स्वयं
बिखर पड़ते हैं अगल-बगल।

प्राण-समीर निकल जाते हैं
छोड़ शरीर शत्रु-गण के।
समरभूमि शोभा पाती है
वर प्रकाश से तव तन के !

"खटका लिए तुम्हारा मन में
जब रातों में सोते हैं
राक्षस वीर प्रियाओं सहित
नींद में निज को खोते हैं,
सपने में तुमको विलोक कर
लंबी निद्रा सोते हैं !
प्रात उन्हें विलोक राक्षसियों
के 'हा ! हा !' रव

"तम को मिटा, प्रकाशपुंज
फैला शुभ, साधु संत जन को
श्रीयुत कर देती हैं धर्मा-
न्वित किरणें तव सज्जन को।
रूप अनादि अनंत तुम्हारा,
मन वाणी के परे रहा।
चतुरानन चकरा जावे,
उसका वर्णन क्या करे, अहा !

"कमलनयन ने भेजा, दण्डित
करने खल जन को, तुम को,

निज कर्त्तव्य निवाहा तुमने
होओ शान्त नमन तुमको !
अपनी धर्म-प्रवृत्ति स्मरण कर
मुनि का त्राण करो स्वामिन् !
संकट-ग्रस्त तपस्वी के श्लथ
तन में प्राण भरो भूमन् !"

फिर दोनों कर जोड़ भाल पर,
बोले अंबरीष वाणी,
परहिताय, निश्छल भक्ति, भरी
मुनि-रक्षा-हित कल्याणी—

"इंद्र-शत्रु के धूमकेतु को
नमस्कार मैं करता हूँ !
विमल-रूप धर्मसेतु के प्रति
नमस्कार शत करता हूँ !
सच्चराचर-जग के रक्षक
चक्र को नमन मैं करता हूँ !
देवेश्वर-संरक्षक के प्रति
नमन सहस्रों करता हूँ !

"श्रुति-सम्मत-धर्म-मार्ग का यदि
सदा अनुसरण करता हूँ,
चाहे जितनी भी प्रियतम
वस्तु हो, दान यदि करता हूँ,

धरणी-सुर सम्मान्य दैव हैं
यदि मेरे कुल के पावन,
प्राप्त करें तत्काल विप्रवर
यह, सब मंगल मनभावन ?
मेरी सेवा से यदि हरि
सर्वभूतवासी तोष करें,
तो ब्राह्मण ज्वाला से छूट
तुरंत सर्व सुख प्राप्त करें !"

पृथिवी-पति का यह अति उत्तम
स्तवन श्रवण कर, शुभ दर्शन,
शांत हुआ निदान राजा का
मन रखने चक्र सुदर्शन !
छोड़ सताना मुनि को धूर्त
चला वापस हरि-निवास को ।
शांत हुए मुनि प्राप्त किया हो
फिर से ज्यों नष्ट-श्वास को !

मीठी मंद-मंद वाणी में
राजा को अशीश दिया ।
बोले—"नरपतिचंद्र ! क्षमा तव
धन्य ! धन्य ! उपकार किया
तुमने मुझ अपराधी जन पर;
क्षमा-प्रवर्षण भूरि किया

किन शब्दों में करूँ प्रशंसा
हरि-सेवा तव अनुपम है !
कैसी अनन्यता है राजन्
विष्णु भक्ति तव अद्भुत है !

"कैसे समझूँ मानव तुम को
देना और त्राण करना,
जिसके हों गुण सहज प्राप्त
आते बन मित्र साथ ? वरना
साधारण नर में ऐसे गुण
कहाँ देखने को मिलते ?
तुम से साधु सुरोत्तम मानव
गण में भला कहाँ मिलते ?

"जिस का नाम पड़े कानों में
एक बार भी यदि यों ही
पाप सभी सरपट हटते हैं
चाहे वे हों कैसे ही !
ऐसे मंगल तीर्थ-पाद, हरि,
विष्णु, देवदेवेश्वर को,
निर्मल मति से भजने वाले,
भक्त सुलभ, परमेश्वर को,
तुम जैसे भागवत पुण्यजन
संसार में क्या न करते ?

ऐसे लोग कौन जग में जो,
उनका मार्ग रुद्ध करते ?

"अपराध की उपेक्षा कर
मेरे, चक्रानल शमित किया !
धन्य-धन्य करुणा तुम्हारी
देह-ताप मम शमित किया !
तन से निकले प्राणानिल फिर
लगे ठिकाने मनुजेश्वर !
धन्य बना मैं, शुभ हो तव सर्वदा !
बिदा दो भूमीश्वर ।"

सुन मुनि-वाणी अम्बरीष ने
सादर उनके चरण छुए ।
उन्हें खिलाया बड़े प्रेम से
मुनिवर अति संतृप्त हुए ।
हर्ष विभोर और साभार
वचन बोले फिर नरपति से—

"देखा तुम को और सुनी
वाणी तव कानों भर, सुख से,
भोजन किया तुम्हारे घर में
फल पाया, छूटा दुःख से ।
नव जीवन प्राप्त किया फिर से
चलता हूँ; तव चरित अमर

नर गायेंगे नभ में भुवि में
आगे चल कर, राज.प्रवर !"

बार-बार दे कर आसीस
नृपति को, चले गगन पथ से,
दुर्वासा ऋषि ब्रह्मलोक को,
हरि गुण गाते सन्मति से !
तब तक बीता एक वर्ष पूरा
व्रत भी सम्पन्न हुआ।
ब्राह्मण का शेषान्न पवित्र
जीम कर नृपति प्रसन्न हुआ !

सोचा मन में यही कि–"सब कुछ
हरि करुणा ही का फल है !
मुनि का संकट दूर करूँ, मुझ
में यह शक्ति ? सभी छल है !
हरि सेवक के लिए नरक-सम
हैं जगती के सुख वैभव,
चतुरानन की पदवी से ले कर
इस भव के भोग विभव।"

कर विचार यह, धरती का
राज सभी छोड़ा शुभ-मति ने
आत्म-सदृश पुत्रों पर छोड़ा
उसका भार, भागवत ने।

फिर ली राह विपिन की, काम—
क्रोध - मोहादि - शत्रु जीते ।
नरपति हरि में मिले! परीक्षित् !
रहे ब्रह्म-रस शुचि पीते !

अंबरीष का चरित चाव से
यह जो सुनते-पढ़ते हैं
धी-शाली भोगी पवित्र बन
जग में आगे बढ़ते हैं !

हरिः ॐ तत्सत्

卐